

आदिनाथ ऋषभदेव एवं अष्टापद

विराट् व्यक्तित्व : अप्रतिम कृतित्व

आदिनाथ ऋषभदेव एवं अष्टापद

विराट् व्यक्तित्व : अप्रतिम कृतित्व

डॉ. लता बोथरा

असीमा प्रकाशनी
कोलकाता
२००५

Ādinātha R̥ṣabhadeva and Aṣṭāpada
by Dr. Lata Bothra

Published by
Aseema Naskar

© Lata Bothra

ISBN : 81-88723-08-8

प्रथम संस्करण :
मई २००५

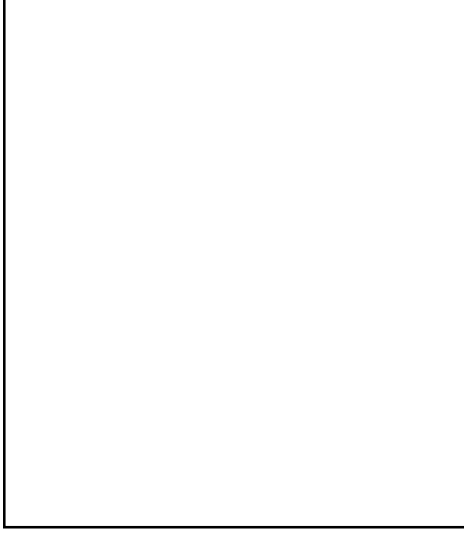
प्रकाशक :
असीमा प्रकाशनी
१८ तारामणि घाट रोड
कोलकाता-७०० ०४१

नगर कार्यालय :
३३बी श्री मोहन लेन, दो तल्ला
कोलकाता-७०० ०२६

मोबाइल नं. : ९३३१२०३८५०

मुद्रक :
अरुनिमा प्रिन्टिंग वर्क्स
८१, शिमला स्ट्रीट
कोलकाता - ७०० ००६

मूल्य : २५०/-



१९११-२००२

चरम निष्ठावान श्रावक, प्राचीन लेख विशेषज्ञ,
जैन विद्या के पुरोध, परम प्रज्ञावान,
प्रसिद्ध मनीषी, वात्सल्य के आगार,
श्रद्धेय स्व. भंवरलाल नाहटा जी को
सादर समर्पित

ऋषभ—स्तुति

हे विश्व विधाता, आदिनाथ
विराज रहे है अष्टापद पर हे ऋषभनाथ
स्वर्णशैल की उत्तुंग चोटी धन्य हो गयी आज
बन गयी पावन तीर्थ मुक्ति पुरी कैलाश

साधु सन्त जिनके दर्शन को आते
अष्टापद की यात्रा कर मुक्ति पाते
देवगण भी जिनके गुण गाते
उनके सन्देश सभी को मार्ग दिखाते
हे भाग्य विधाता, योगीनाथ
विराज रहे है अष्टापद पर हे ऋषभनाथ

सब संस्कारों के जन दाता
बन गये विश्व के प्रकाश नाथ
सूर्य भी जिनके आगे शीष झुकाता
इन्द्र-इन्द्राणी जिनको मस्तक नवाता
हे मोक्ष दाता, वृषभनाथ
विराज रहे है अष्टापद पर हे ऋषभनाथ

ब्राह्मी सुन्दरी को दे लिपि अक्षर ज्ञान
नारी जाति को दिया जिसने सम्मान
जिनके दर्शन से हुआ माता को केवल ज्ञान
हे आदि विधाता, पुरुषोत्तम नाथ
विराज रहे है अष्टापद पर हे ऋषभनाथ

असि, मसि, कृषि का भेद बताया
अहिंसा अनेकान्त का रास्ता दिखाया
अपरिग्रह का सन्देश सुनाया
लोक कल्याण का मार्ग सुझाया
हे अग्रदाता, कैलाश नाथ
विराज रहे है अष्टापद पर हे ऋषभनाथ

राजा बन जन-जन का किया कल्याण
दिया मुक्त हस्त से सबको दान
छोड़ धन ऐश्वर्य, राज्य सम्मान
लिया अष्टापद पर निर्वाण
हे मुक्ति दाता, शिव नाथ
विराज रहे है अष्टापद पर हे ऋषभनाथ

क्रोध, लोभ, माया-मोह को जीतकर
बने जिन, बुध, शिव महान
ब्रह्मा बन दिया सृष्टि का ज्ञान
विष्णु बन जगत के बने पालनहार
हे ज्ञान दाता, कल्याण नाथ
विराज रहे है अष्टापद पर हे ऋषभनाथ



प्रस्तावना

वैदिक और सनातन संस्कृति के अनुसार भगवान् ऋषभदेव अष्टम अवतार माने गये हैं। चौबीस अवतारों की गणना में मानवीय अवतारों में ऋषभदेव प्रथम अवतार माने जाते हैं। इनसे पूर्व के सभी अवतार पशु रूप अथवा अर्द्ध या अविकसित मानव रूप में प्रस्तुत हुए हैं। अवतार ईश्वरीय अंश होने के कारण सृष्टि कर्ता के रूप में भी माने जाते हैं।

जैन संस्कृति के अनुसार ऋषभदेव सृष्टि के स्रष्टा तो नहीं है किन्तु सृष्टि के व्यवहार जगत् के स्रष्टा अवश्य है। जगत् को सर्वप्रथम अग्नि का उपयोग सिखाने वाले, कृषि का शिक्षण देने वाले, मिट्टी के पात्रों का निर्माण करने वाले, भोजन निर्माण की विधि बताने वाले, शस्त्रास्त्रों की तथा कलाओं की शिक्षा देने वाले, भाषालिपि का शिक्षण देने वाले, उग्रादि कुल स्थापन करने वाले, राज्य स्थापना करने वाले, राजनीति का पालन करवाने वाले, विवाह विधि के संचालक, प्रथम राजाधिराज के गौरव को प्राप्त करने वाले, दान की प्रथा चालू करने वाले, राज्य का त्याग कर सर्वप्रथम संन्यास ग्रहण करने वाले, साधु मार्ग का प्रवर्तन करने वाले, केवलज्ञानधारक और मुक्ति के मार्ग को प्रारम्भ करने वाले होने से इन्हें सृष्टि का प्रथम नियामक कह ही सकते हैं।

भगवान् ऋषभ के प्राकृत भाषा की दृष्टि से निम्न नाम प्राप्त होते हैं : १. उसभ, २. उसह, ३. वसभ, ४. वसह। इन नामों के संस्कृत रूप होते हैं - ऋषभ और वृषभ। भगवान् के विशिष्ट गुणों और व्यक्तित्व को ध्यान में रखकर इनके अन्य भी अनेक नाम प्राप्त होते हैं। जैसे- आदिना, युगादिदेव, प्रथम पृथ्वीनाथ, प्रथम भिक्षुक, प्रथम तीर्थकर प्रथम केवलज्ञानी, नाभेय, मरुदेव आदि।

भगवान् ऋषभदेव के जीवन की घटनाओं और चरित्र का पूर्ण विवरण, अल्प विवरण और नामोल्लेख आदि प्रमुख निम्न ग्रन्थों में प्राप्त होता है :

आवश्यकनिर्युक्ति

आवश्यक चूर्णि

आवश्यक सूत्र हरिभद्रीय टीका

आवश्यक सूत्र मलयगिरि टीका

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र और उसकी टीका

कल्पसूत्र और उसकी टीकाएं

शलांकाचार्य रचित चउप्पन्न महापुरुष चरियं

श्रीवर्द्धमानसूरि (श्रीअभयदेवसूरि के शिष्य) रचित आदिनाह चरियं

श्रीहेमचन्द्राचार्य रचित त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित्र प्रथम पर्व

महाकवि पुष्पदन्त रचित महापुराण

श्री जिनसेन रचित आदिपुराण

यतिवृषभ रचित तिलोयपण्णत्ति आदि।

भगवान् युगादिदेव का अष्टापद तीर्थ से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। जन्म स्थान अयोध्या/विनीता, केवलज्ञान उत्पत्ति स्थान पुरिमताल नगरी और निर्वाण स्थान अष्टापद रहा है। अष्टापद का अत्याधिक महत्त्व इसीलिए है कि भगवान् समय-समय पर विचरण करते हुए अष्टापद पधारते थे। आश्चर्यजनक १०८ मुनियों के साथ सिद्धि स्थान को भी प्राप्त हुए। इसकी अपेक्षा भी ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने उनके सिद्धि स्थान पर सिंहनिषद्या में मन्दिर निर्माण करवाया। जिसमें ऋषभ के बाद होने वाले भावी २३ तीर्थकर अर्थात् २४ तीर्थकरों की देहमान और वर्ण के अनुसार रत्न मूर्तियों का निर्माण करवाकर उस मन्दिर में स्थापन किया था। **सिद्धाणं बुद्धाणं** के अनुसार चारों दिशाओं में चार, आठ, दस और दो मूर्तियाँ स्थापित की थी।

अष्टापद का तीर्थों में प्रमुख तीर्थ होने के कारण जैन साहित्य में प्रारम्भ से लेकर आज तक विशेष स्थान रहा है। पंचम काल में अदृश्य रहने/प्रत्यक्ष न होने पर भी जैन रचनाकारों ने इसके गुणगान में कोई कमी नहीं रखी है। भगवान् महावीर के साथ गौतम गणधर का संवाद, गौतम गणधर की अष्टापद की प्रत्यक्ष यात्रा का महत्त्वपूर्ण उल्लेख होने के कारण आज भी समस्त तीर्थों में अष्टापद अग्रगण्य माना जाता है। गौतम गणधर के जीवन की प्रमुख घटनाएँ अष्टापद से जुड़ी होने के कारण अनेक शास्त्रों और ग्रन्थों में इसके उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनमें से प्रमुख हैं :

१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र टीका सहित
२. आवश्यक सूत्र मलयगिरि टीका सहित
३. कल्पसूत्र टीका सहित
४. भगवतीसूत्र
५. नन्दीसूत्र टीका
६. संस्तारक प्रकीर्णक
७. पंचाशक अभयदेविया टीका
८. गुणचन्द्रगणि (देवभद्राचार्य) रचित महावीर चरियं
९. हेमचन्द्राचार्य रचित त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित्र दशम पर्व
१०. जिनप्रभसूरि रचित विविधतीर्थकल्पान्तर्गत अष्टापद गिरिकल्प
११. धर्मघोषसूरि रचित अष्टापद महातीर्थकल्प
१२. विनयप्रभोपाध्याय रचित गौतमरास आदि।

हेमचन्द्राचार्य आदि के मतानुसार अष्टापद को ही कैलाशगिरि कहा गया है। विविध तीर्थ कल्पादि के अनुसार अष्टापद के समीप ही मानसरोवर माना गया है।

सन् १८०६ में लामचीदास गोलालारे द्वारा लिखित मेरी कैलाश यात्रा के कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों को लेखिका ने जापानी विद्वान ओकानारा, स्वामी आनन्द भैरव गिरि के पत्र, सहजानन्दजी के

वर्णनों, और इतिहासकार फरग्यूसन के विवरणों से प्रमाणिक सिद्ध करने का सार्थक प्रयत्न किया है। सत्य को सामने लाने के लिए इस तरह के प्रयत्न बहुत जरूरी है। लामचीदास जी ने कैलाश के आस-पास की बस्तियों में जैन गृहस्थों के घरों और मन्दिरों का उल्लेख किया है वह आज २०० वर्ष बाद वहाँ एक भी जैन घर न होने से विचारणीय है। इस सन्दर्भ में कर्नल जोरावर सिंह के वृत्तान्त में यह कहा गया है कि उन्होंने मानसरोवर में स्नान कर वहाँ पर स्थित मन्दिर में पूजा की थी लेकिन आज वहाँ कोई भी मन्दिर नहीं है। इसी तरह लामचीदासजी द्वारा वर्णित इस क्षेत्र के मन्दिर कुछ तो नष्ट हो गए, कुछ शिव व बौद्ध मन्दिरों में परिवर्तित कर दिये गये और जो आज उपलब्ध मन्दिर और मूर्तियां हैं वह बौद्ध लामाओं के अधिकार में हैं। 'मेरी कैलाश यात्रा' के समान ही बुलाकीदासजी का टर्की के तारातम्बोल का यात्रा वृत्तान्त भी मिलता है जिसमें वहाँ के राजा, जैन मन्दिरों तथा जैन आचार्यों का वर्णन है।

डॉ० श्रीमती लता बोथरा सम्पादिका - **तित्थयर**, कलकत्ता ने अपने विशिष्ट अनुसन्धानपूर्ण **आदिनाथ ऋषभदेव एवं अष्टापद** (विराट व्यक्तित्व अप्रतिम कृतित्व) पुस्तक में गहराई के साथ अनेक पुस्तकों का अवलोकन कर ऋषभदेव और अष्टापद पर अपने विचार, चिन्तन व्यक्त किए हैं, उनमें से प्रमुख है :

धर्मचक्र, अक्षयतृतीया की प्रवर्तना, हड़प्पा और मोहन जोदड़ो में मिली ऋषभदेव की आकृतियाँ, तीर्थकरों के पाँच कल्याणक, तीर्थ शब्द की व्यापकता, आगम और ऋग्वेद का अर्थ साम्य और ॐ मणि पद्म हूं के अर्थ का सुन्दर तथा मौलिक प्रतिपादन है।

भगवान् ऋषभदेव की निर्वाण तिथि माघ कृष्ण त्रयोदशी मानी जाती है। उत्तर तथा दक्षिण देशी पंचागों के भेद के कारण फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी मानी जा सकती है। ईशान संहिता के आधार पर ऋषभ

निर्वाण से ही सनातन परम्परा में शिवरात्रि प्रसिद्ध हुई यह लेखिका का अपना गहन चिन्तन है। वस्तुतः शिव शब्द का अर्थ - शिवंकर, शुभकारी, कल्याणकारी मंगलकारी अर्थों में प्रयुक्त होने, कुछ अंशों में शिव और ऋषभ में सादृश्य होने के कारण तथा भागवत पुराण आदि में प्रतिपादित परम योगीराज ऋषभ का विशेषण होने से एवं दोनों का कैलाश स्थान होने से ऋषभ ही शिव है यह कल्पना एक अहम् सूत्र छोड़ती है जो कि विद्वानों के लिए विचारणीय है।

लंकाधिपति दशानन का कैलाश पर्वत का उत्थान करने की चेष्टा में अक्षम होकर रुदन करने के कारण ही रावण नाम पड़ा। वही रावण जिनभक्ति की तन्मयता के कारण आगामी तीर्थंकर बनने का सौभाग्य प्राप्त कर सका है।

कुलपाक तीर्थ के माणिक्यदेव, ऋषभदेव मूलनायक की प्रतिमा भी भरत चक्रवर्ती की अंगूठी के रत्न से मानी जाती है। यह भी जैन परम्पराओं के कथानकों से सिद्ध है।

अष्टापद की सुरक्षा के निमित्त आचार्य हेमचन्द्र द्वारा प्रतिपादित लौहमय यन्त्र पुरुष की रचना को रॉबोट सिद्ध करना स्व. श्रीगणेश ललवानी की आकर्षक कल्पना एक नए सूत्र की ओर इंगित करती है जिसे लेखिका ने आज के सन्दर्भ में और भी पुष्ट किया है।

अष्टापद कैलाशगिरि प्रवास के **हरबर्ट टिकी** के अनुभव, Higging, Dr. N.S. Viridi और मत्स्यपुराण आदि में वर्णित इस पर्वत की मनोरमता, रमणीयता, पवित्रता, यक्ष परम्परा और किंवदंतियों को, स्कन्धपुराण, वामन-पुराण आदि का आधार लेकर परिष्कृत वर्णन किया गया है।

अपराजित शिल्पशास्त्र में शिव-पार्वती संवाद में शिव के मुख से ऋषभ का जो अनूठा वर्णन प्राप्त होता है वह पठनीय है। तिब्बतीय भाषा में शिव का अर्थ मुक्त और लिंग का अर्थ क्षेत्र होता है उस दृष्टि से यह

स्वतः ही ऋषभदेव का सिद्धक्षेत्र माना जा सकता है। कुछ विदेशी यात्रियों और कुछ यहाँ के मण्डलेश्वरों, साधु-साध्वियों की यात्रा में कैलाश और मानसरोवर के उल्लेख इसकी पवित्रता को प्रतिपादित करते हैं।

बुलाकीदास बोहरा के लिए गए चित्र अष्टापद की कल्पना को स्पष्ट करते हैं। Seven Hedin, भरत हंसराज शाह के चित्र भी वहाँ की स्थापत्य कला की ओर संकेत करते हैं। जे. बी. शाह का तो कहना है कि उसी के आधार पर बेबीलोन के जिगुरात के मन्दिर बने हुए हैं। जैनाचार्यों ने विलुप्त अष्टापद को स्मृति में साकार रखते हुए समय-समय पर अष्टापद के जिनालय बनाकर उस कल्पना को साकार रूप देने का प्रयत्न किया है। आज भी डॉ० रजनीकान्त ने न्यूयॉर्क शहर में रत्ननिर्मित अष्टापद मन्दिर निर्माण कार्य चालू कर रखा है।

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि श्रीमती **लता बोथरा** ने असाध्य परिश्रम कर इस तीर्थ की कल्पना को साकार करने का भरसक प्रयत्न किया है। इसके लिए वस्तुतः वे साधुवाद की पात्रा हैं। आगामी पीढ़ी इस खोज को आगे बढ़ाते हुए मौलिक रूप में इस तीर्थ का स्वरूप विश्व के समक्ष रखने का प्रयत्न करेंगे तो यह एक विश्व की महान् खोज होगी।

साहित्य वाचस्पति म० विनयसागर

सम्मान्य निर्देशक :

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

लेखिका की कलम से

प्राच्य विद्याविशारद प्रो. मैक्समूलर ने अपने निबन्ध “India What Can It Teach Us” ‘भारत हमें क्या सिखा सकता है’ में लिखा है “यदि हमसे पूछा जाय कि अन्तरिक्ष के नीचे वह कौन सा स्थान है जहाँ मानव के मानस ने अपने अन्तराल में निहित ईश्वर प्रदत्त अन्यतम सद्भावों को पूर्ण रूप से विस्तृत किया, गहराई में जाकर जीवन की कठिनतम समस्याओं का विचार किया है और उनमें से अनेकों को सुलझाया है, जिसको जानकर प्लेटो और कान्ट का अध्ययन करने वाले मनीषी भी आश्चर्य चकित होकर रह जाय, तो मेरी ऊंगली भारत की ओर उठेगी। मैक्समूलर के इस कथन से मन में अनेकों जिज्ञासाएं उठती हैं कि भारत में ही ऐसी क्या विशेषता है और यह कैसे और कहाँ से आयी। अन्य क्षेत्रों में यह विशेषता क्यों नहीं है भारत को ही महान् क्यों कहा गया है यही खोज करने के लिये हमें अपनी संस्कृति के मूल स्रोत को जानना होगा। जिस प्रकार वृक्ष का अस्तित्व उसकी जड़ में निहित रहता है और जड़ मिट्टी के नीचे होती है जिसको देखने के लिये हमें मिट्टी को कुरेदना पड़ता है इसी तरह सभी संस्कृतियों का मूल स्रोत एक है जिसको जानने के लिये ऐतिहासिक तथ्यों को सत्य की कसौटी पर परखकर सामने लाना ही हमारा उद्देश्य होना चाहिए। स्वामी प्रणवानन्द जी महाराज ने बहुत ही सही लिखा है “सत्य की खोज मानव का सबसे पवित्र कार्य है और उसका प्रचार मानव का कर्तव्य” Search for the truth is the noblest occupation of man; its publication is a duty.”

सभी संस्कृतियों का उत्कर्ष उसके प्राचीन इतिहास पर निर्भर होता है इसलिये हर धर्म और जाति ने अपने को चाहे वह वैदिक, बौद्ध, ईसाई

या मुस्लिम हो प्राचीन सिद्ध करने की चेष्टा में आदि मूल स्रोतों को नष्ट करने, परिवर्तन करने या अनदेखा करने की कोशिश की जो आज भी चली आ रही है। इस विषय में, कर्नाटक के सन्दर्भ में इतिहासकार रोमिला थापर का यह वक्तव्य बहुत महत्वपूर्ण है जो उन्होंने हिन्दुस्तान टाइम्स के रिपोर्टर अमित सेनगुप्ता को दिया—
“We are now finding evidence of shaivite attacks on Jain Temples, the destruction of Temples, the removal of idols, the re-planting of shaivite images in their place, this is a regular occurrence where by even Temples were destroyed or Jain monuments were destroyed by Hindu particularly by shaivites.”

प्रख्यात बौद्ध साहित्य एवं तंत्र शास्त्र विशेषज्ञ डॉ. प्रबोध चन्द्र बागची ने अपनी कई एक स्थापनाओं के द्वारा खोतान एवं उसके आस-पास के इलाकों के खण्डहरों में जो मूर्तियां मिली उस पर अपना विवेचन करते हुए उन्हें जैन मूर्तियों के सादृश्य बताया। उन्होंने सिलवा लेवी के साथ पालि और प्राकृत के अध्ययन के साथ-साथ बौद्ध सूत्रों के समानान्तर उन जैन सूत्रों को भी खोज निकाला जिसके कारण अनेक कट्टरवादी प्राच्य विद्वानों ने उनका विरोध किया पर उनकी सारी स्थापनाएं उस वक्त सच दिखाई देती हैं जब एम. ए. स्टाइन के भ्रमण वृत्तान्तों को पढ़कर उन सच्चाइयों को हम देख पाते हैं। वस्तुतः जैन धर्म के अवशेष सिर्फ भारत में ही नहीं बल्कि पूरे विश्व भर में फैले हुए हैं जिसके लिये डॉ. प्रबोध चन्द्र बागची कहते हैं कि सच्चाई को देखने के लिये सिर्फ चमड़े की आँख ही नहीं बल्कि एक निरपेक्ष मन की आँख भी होनी चाहिये। एक ऐसा सच जो हर समय, हर तरफ अपना साक्ष्य प्रदान करता है उसे अलग से प्रमाणित करने की जरूरत मैं नहीं समझता हूँ। (प्रधान अतिथि मूर्तिकला विशेषज्ञ डॉ. एस. के. सरस्वती के समक्ष रवीन्द्र जयन्ती के उपलक्ष्य में विश्व भारती में दिया गया भाषण)

प्राचीन समय से ही मक्का बहुत ही पवित्र और पूज्य स्थान माना जाता रहा है। दूर दूर से यात्री इस तीर्थ के दर्शन को आते थे। काबा का मन्दिर बहुत ही प्रसिद्ध था, जहाँ ३६० मूर्तियां थी। सन् १९४५ में विक्रम संवत् २००० उज्जयिनी में मनाया गया। उस समय हिन्दू और मुसलमान दोनों द्वारा सम्मिलित रूप से एक लेख जारी किया गया था जिसमें यह उल्लेख था कि अरब का अन्तिम भारतीय राजा सम्राट विक्रमादित्य था जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी। यह राजा इतना प्रभावशाली था कि उसकी प्रशंसा में अरब कवि जिरहम विन्टोई ने कविता की रचना की थी। यह कवि मोहम्मद साहब से १६५ वर्ष पहले और विक्रम के शासन के ५०० वर्ष बाद हुआ था। उस समय कविता की प्रतियोगिता की परम्परा थी और जो कविता पुरस्कार प्राप्त करती उसे काबा के मन्दिर में स्वर्ण तशतरी में खुदवाकर लगाया जाता था। विन्टोई की यह कविता स्वर्ण तशतरी पर खुदी हुई है और काबा के मन्दिर के अन्दर लगायी गयी थी। यह कविता मूल भाषा में और उसका अंग्रेजी अनुवाद दोनों उपलब्ध है। जैन साहित्य में भी विक्रमादित्य के विषय में सिद्धसेन दिवाकर और महाकालेश्वर मन्दिर के संदर्भ में अनेक जनश्रुतियां तथा उल्लेख मिलते हैं। शार्लोट क्राउज़ ने विक्रमादित्य और सिद्धसेन दिवाकर का अपने लेख में वर्णन किया है। जबकि इतिहास इस महान् सम्राट के विषय में अभी तक अंधेरे में हैं।

भारतीय इतिहास में कल्हण की राजतरंगिणी बहुत ही महत्वपूर्ण और प्रामाणिक स्रोत मानी जाती है। स्वयं कल्हण ने लिखा है कि उसने राजतरंगिणी की रचना बिना किसी विद्वेष और पक्षपात के लिखी है। इतिहासकार आर. सी. मजूमदार ने भी इसके विषय में कहा है *This is the only work in ancient Indian literature that may be regarded as an Historical text in the true sense of the word.*

राजतरंगिणी में लगभग १३०० ई. पू. का वर्णन है। जिसके अनुसार-
 प्रपौत्र शकुनेस्तस्य भूपतेः प्रपितृव्यज
 अथा वहदशोकांख्यः सत्य संधो वसुंधराम्
 यः शांत वृजिनो राजा प्रपन्नो जिनशासनम्
 शुष्कलेत्र वितस्तात्रौ तस्तार स्तूपमंडलै
 धर्मारण्य विहारान्तर्वितस्तात्रपुरेभवत्
 यत्कृतं चैत्यमुसेधावधि प्राप्त्यक्षमेक्षणम्

१ : १०१, १०२, १०३

M.A. Stein ने इसका अनुवाद करते हुए लिखा है— “Then the son of that king’s grand uncle and great grand son of Sakuni The faithful Asoka reigned over the earth. This king who had freed himself from sins and had embraced the doctrine of Jina, covered Suskaetra and Vitastara with numerous stupas... .” अर्थात् राजा शकुनी के प्रपौत्र सत्य प्रतिज्ञ अशोक महान् ने काश्मीर की वसुन्धरा पर राज्य किया। उसने जिन शासन को स्वीकार किया था तब उसके पाप शान्त हो गये थे। शुष्कलेक तथा वितस्तात्र इन दोनों नगरों को उसने जैन स्तूप मंडलों से आच्छादित कर दिया था। अनेक जैन मंदिरों तथा नगरों का निर्माण किया जिनमें विस्तात्र पुरी के धर्मारण्य विहार में इतना ऊँचा मन्दिर बनवाया था कि जिसकी ऊँचाई को आँखे देखने में असमर्थ हो जाती थी। इसकी व्याख्या करते समय सिर्फ M.A. Stein तथा अन्य विदेशी इतिहासकारों ने ही नहीं भारतीय इतिहासकारों ने भी इस अशोक को मौर्य वंशी अशोक मान लेने की भूल की है। कुछ मास पूर्व इतिहास के एक प्रो. से मैं मिली तो मैंने राजतरंगिणी का यह श्लोक उनको पढ़ने के लिये दिया। उन्होंने अशोक का नाम पढ़ा तो बोले यहाँ जिनशासन शब्द का अर्थ बौद्ध शासन होना चाहिये क्योंकि अशोक बौद्ध था। मैंने उनसे इस विषय पर विस्तारित रूप से चर्चा की तब उन्होंने

अपनी बात में छिपे भ्रम को स्वीकार किया। इतिहास का विशुद्ध रूप से अध्ययन अनेकान्त दृष्टि से ही सम्भव है तभी सही तथ्य हमारे सामने आ पायेंगे। राजतरंगिणी का यह एक ऐसा अकाट्य प्रमाण है जो चौदहवीं शती ई० पू० में जैन धर्म के प्रभाव की पुष्टि करता है।

उड़ीसा के महान् सम्राट महाराज खारवेल मेघवाहन के राज्यकाल के १३वें वर्ष तक का वर्णन खण्डगिरि-उदयगिरि के शिलालेखों में मिलता है। लेकिन उसके बाद का वर्णन कल्हण की राजतरंगिणी में मिलता है। राजतरंगिणी में सिर्फ मेघवाहन का ही नहीं वरन् उसके बाद की चार पीढ़ियों का वर्णन किया गया है। महामेघवाहन ने उत्तरापथ में काश्मीर पर विजय पताका फहराकर वहाँ अहिंसा का प्रचार किया था। डलहौजी से श्रीनगर के पैदल रास्ते में आज भी सैकड़ों मंदिरों के खंडहर वीरान पड़े हुए दिखायी पड़ते हैं। जिन्हें देव मंदिर कहा जाता है। A.H. Francke ने अपनी किताब A History of Western Tibet में लिखा है—
 - “When Hiuen Tsang visited Kashmir, he found the mass of the population addicted to the devas, and the monasteries few and partly deserted.” श्री नरेन्द्र सहगल ने पांचजन्य में काश्मीर सम्बन्धी अपने लेख में खारवेल के विषय में लिखा है कि **प्राणी रक्षा हेतु स्वयं की बलि को प्रस्तुत होने वाला मेघवाहन अपने आदर्शों से** काश्मीर को ऊँचा उठा ले गया। Stein ने भी खारवेल के विषय में कहा है—
 Then he who was sincere in the observance of the sacred law, went forth for the conquest of the world so that he might impose upon the other kings his prohibition against the killing. His ambition for conquest, in which valour was laudably with care for keeping the people free from fear, deserved to be envied even by a Jina.

पुष्यमित्र को हराकर कलिंग जिन की मूर्ति को वापिस कलिंग में लाकर स्थापित करने वाले दिग्विजयी सम्राट खारवेल के विषय में के. राधाकृष्ण लिखते हैं— काश्मीर ने सम्राट मेघवाहन जैसे दिग्विजयी सम्राट उत्पन्न किये जिसकी सैनिक वाहिनियों ने आधे विश्व पर विजय किया और विजित प्रदेशों को एक शर्त पर वापिस किया कि वहाँ पर प्राणी हिंसा नहीं होगी। लेकिन यह बड़े खेद का विषय है कि ऐसे महान सम्राट को भारतीय इतिहास के पन्ने में कोई स्थान क्यों नहीं मिला? क्योंकि वह जिनधर्म के अनुयायी थे। इतिहास मेरा प्रिय विषय था लेकिन अपने विद्यार्थी जीवन में खारवेल के विषय में न कभी पढ़ने में आया और न ही सुनने में।

किसी भी संस्कृति का इतिहास जानने के दो प्रमुख साधन होते हैं। साहित्यिक और पुरातात्विक। इन दोनों उपलब्ध स्रोतों से यह निश्चित तौर पर प्रमाणित होता है कि ऋषभ संस्कृति ही प्राचीन मूल संस्कृति थी। राजतरंगिणी, खारवेल के शिलालेख, मथुरा के आयागपट्ट और मूर्तियां, फतेहपुर सीकरी का अन्वेषण यह सब प्राचीन अर्हत संस्कृति को ही परिलक्षित करते हैं। एक सबसे महत्वपूर्ण बात इस सन्दर्भ में ऋषभदेव के निर्वाण स्थल अष्टापद से सम्बन्धित है। तीर्थकरों के पंचकल्याणकों की जगह प्राचीनकाल से ही तीर्थ मानी जाती रही है। पंचकल्याणकों में निर्वाणकल्याणक का महत्व अधिक माना जाता है। ऋषभदेव की निर्वाण भूमि अष्टापद सबसे प्राचीन तीर्थ है। जहाँ उनके पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत द्वारा मन्दिरों स्तूपों का निर्माण करवाया गया था जिनके उल्लेख जैन साहित्य में प्रचुर रूप से मिलते हैं।

अष्टापद का कैलाश के रूप में तथा शिव के रूप में वर्णन मिलता है। वास्तव में यह शिव क्षेत्र है क्योंकि तिब्बती भाषा में शिव का अर्थ मुक्त और लिंग का अर्थ क्षेत्र होता है। अष्टापद या कैलाश तिब्बत में है अतः

तिब्बत के प्राचीन धर्म के विषय में अध्ययन आवश्यक है। बुद्ध धर्म वहाँ ८वीं शताब्दी के बाद आरम्भ हुआ। प्राचीन काल के कुछ चित्र एवं कलाकृतियां प्राप्त हुए हैं। जिसके विषय में ए. एच. फ्रेन्क ने अपनी किताब 'History of Western Tibet' में लिखा है 'These painting represents Buddhist saints often nude and in a standing position' वास्तव में यह जैन मुनियों के चित्र थे। क्योंकि बौद्ध धर्म में दिगम्बरत्व का कोई स्थान नहीं होता। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अपने लेख 'मेरी तिब्बत यात्रा' में लिखा है कि उन्होंने तिब्बत यात्रा के दौरान अनेकों अवहेलित जैन मूर्तियाँ बन्द कमरे में पड़ी हुई देखी। जिनमें से कुछ के उत्कीर्ण लेखों को उन्होंने अपने विवरण में भी दिया है। 'History of Western Tibet' में एक संक्षिप्त विवरण मिला है जिसमें पांच मूर्तियों की प्राप्ति का उल्लेख है जिनको जैन धर्म से अनभिज्ञ लेखक ने बौद्ध मूर्तियां बताया है। इनमें तीन मूर्तियों के नीचे सिंह, मोर और गरुड़ बने हुए हैं जो जिन मूर्तियों के प्रतीक हैं।

बचपन में जब मन्दिर जाती थी तो वहाँ तीर्थों के चित्र देखने में आते उनमें अष्टापद का काल्पनिक चित्र भी देखने में आया और ये जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि ये तीर्थ कहाँ पर है क्यों कि अन्य बड़े - बड़े तीर्थ प्रायः सब देख और सुन रखे थे। माता-पिताजी से पूछा उन्होंने बताया कि तीर्थ लुप्त हो चुका है। समझ नहीं आया कि तीर्थ लुप्त कैसे होता है। पूछने पर यह बताया गया कि आज के कलयुग में ऐसे महत्वपूर्ण और पवित्र तीर्थ के मनुष्य को दर्शन नहीं हो सकते। अनेक प्रश्न मन में उठते रहे पर जिज्ञासा शान्त नहीं हुई क्यों कि समाधान नहीं था। अनेकों वर्षों बाद परम् पूज्य आचार्य प्रवर पद्मसागर सूरिस्वर जी महाराज के आशीर्वाद से कोबा के संग्रहालय में डॉ. बालाजी साहब से जैन धर्म के विषय में चर्चा हो रही थी। चर्चा करते करते उन्होंने अष्टापद कैलाश का एक चित्र दिखाया जिसे देखकर मन रोमांचित

हो उठा और मैंने उनसे वह चित्र माँगा। उन्होंने मुझे भरत भाई शाह का पता व फोन नम्बर देकर उनसे सम्पर्क करने को कहा, और यहीं से मेरी जिज्ञासा के समाधान की खोज आरम्भ हुई जो आज भी जारी है। इस बीच इस विषय पर कुछ काम करने का मौका भी मिला। सन् १९९९ ई. में गुरुवर श्री पूज्यजी श्री जिनचन्द सूरि जी के आशीर्वाद से इस विषय पर तित्थयर पत्रिका का विशेषांक निकाला जिसमें भरत भाई शाह के कैलाश की तीन यात्राओं का अनुभव एवं उनके द्वारा लिये वहाँ के चित्र मेरे शोध कार्य का प्रमुख स्रोत रहे। इस विशेषांक को देखकर श्रद्धेय स्वर्गीय भंवर लाल जी नाहटा साहब ने अष्टापद पर एक किताब लिखने को कहा और इस विषय पर अपना मार्गदर्शन दिया। यह मेरा दुर्भाग्य रहा कि उनके सामने यह कार्य मैं पूरा नहीं कर सकी। आज उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि के रूप में यह शोध कार्य उनको समर्पित करती हूँ। डॉ. रजनी कान्त भाई शाह का पिछले तीन वर्षों से New York (U. S. A.) से मुझसे बराबर अष्टापद सम्बन्धित जानकारियां और लेख भेजने का आग्रह मुझे इस विषय से जोड़ता चला गया। जनवरी २००५ में अहमदाबाद में उनसे भेट और उनकी धर्म प्रभावना ने मेरे संकल्प को और भी दृढ़ बनाया। अपने इस कार्य में मुझे जैन भवन के सभी कार्यकर्ताओं का भरपूर सहयोग मिला विशेषकर सुश्री रेखा बाजपेयी का जिसने पूर्ण मेहनत और लगन के साथ इसका कम्पोजिंग किया। गुरुवर प्रो. सत्यरंजन बनर्जी, प्रो. कल्याणमल जी लोढ़ा, महोपाध्याय विनयसागर जी, डॉ. सागरमल जी जैन जैसे विख्यात विद्वानों का आशीर्वाद और मार्गदर्शन मुझे बराबर मिलता रहा। आदरणीय श्री दिलीप सिंह जी नाहटा तो वह स्तम्भ है जिनके कारण यह शोध कार्य आकार रूप ले सका है। श्रीमती जैस्मिन दुधोरिया और श्रीमती माला बैद की मेरे शोध कार्यों में दिलचस्पी मुझे निरन्तर चलते रहने की प्रेरणा देती रही है। डॉ. अभिजीत भट्टाचार्य ने

अपने व्यस्त जीवन चर्या में से अमूल्य समय निकालकर मेरे इस शोध कार्य में कदम-कदम पर अपना सहयोग दिया। उनकी मैं बहुत-बहुत आभारी हूँ। इस शोध पुस्तक में दिए गये चित्र श्री भरत हंसराज शाह के द्वारा प्राप्त हुए हैं। पुनः मैं सभी के प्रति अपना आभार प्रकट करती हूँ जिनका मुझे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग मिला।

मानव सभ्यता और संस्कृति के आदि स्रोत के पहचान के रूप में अष्टापद कैलाश एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक धरोहर है, जिस पर समस्त विद्वानों और समाज को मिलकर इस क्षेत्र में काम करना चाहिये। इस पुण्य भूमि पर मुनिगण, आचार्य एवं श्रावकगण जा सके इसकी व्यवस्था होनी चाहिए तथा सामूहिक प्रयत्न द्वारा भारतीय संसद में इस पर चर्चा करके चीन से चल रही वार्ता में इस तीर्थ पर आवागमन सुलभ हो सके इसके लिए बात-चीत करने को भारत सरकार को प्रेरित किया जाना चाहिए। इस विषय की महत्ता इसलिये है कि शायद हम अपने अतीत के आलोक पथ को देखकर, समझकर उससे प्रेरणा लेकर अपने भविष्य को सँवार पायें। अन्त में यह कहना चाहूँगी कि मंजिल सामने खड़ी दस्तक दे रही है, बस उसे छू लेने भर की देर है।

लता बोथरा

भक्तामर-प्रणत-मौलिमणि-प्रभाणा-
मुद्द्योतकं दलित-पाप-तमोवितानम् ।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥ १

यः संस्तुतः सकल-वाङ्मयतत्त्वबोधा-
दुद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोक-नाथैः ।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितय-चित्तहरैरुदारैः
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥ २

आदिनाथ ऋषभदेव एवं अष्टापद

विराट् व्यक्तित्व : अप्रतिम कृतित्व

तीर्थों की श्रेणी में सबसे प्राचीन शाश्वत तीर्थ अष्टापद है, जो प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की निर्वाण भूमि है। ऋषभदेव को ही आदिनाथ कहा जाता है।

आदिमं पृथिवीनाथ आदिमं निष्परिग्रहम् ।

आदिमं तीर्थनाथ च ऋषभस्वामिन स्तुमः ॥

जो इस अवसर्पिणी काल में पहले ही राजा, पहले ही त्यागी मुनि, पहले ही तीर्थंकर हुये उन ऋषभदेव स्वामी की हम स्तुति करते हैं।

We pay homage to Rṣabhdeva who was the first King, first Ascetic, first Tirthankara in this Avasarpiṇi Era. Rṣabhdeva, as the founder of civilization preached a religion, started the culture and showed the path of liberation.

कल्पसूत्र में भगवान् ऋषभदेव के पाँच नामों का उल्लेख मिलता है जो इस प्रकार है — (१) ऋषभ (२) प्रथम राजा (३) प्रथम भिक्षाचर (४) प्रथम जिन और (५) प्रथम तीर्थंकर। “उसभे इ वा, पढमराया इ वा, पढमभिक्खायरे इ वा, पढम जिणे इ वा, पढम तित्थयरे इ वा।”

(कल्पसूत्र, सूत्र १९४)

मनुस्मृति में भगवान् ऋषभदेव को उरुक्रमः के नाम से भी अभिहित किया गया है। “अष्टमो मरुदेव्यां तु, नाभेर्जात उरुक्रमः।” (मनु स्मृति) महापुराण के पर्व १३ और १५ में वर्णन है कि भगवान् ऋषभदेव जिस समय माता के गर्भ में आये उस समय कुबेर ने हिरण्य की वृष्टि की इस कारण उनका नाम हिरण्यगर्भ रखा गया। ऋषभदेव कर्मभूमि और धर्म के आद्य प्रवर्तक होने के कारण आदिनाथ के नाम से भी विख्यात हैं। ऋषभदेव की मान्यता सिर्फ जैन ग्रन्थों में ही नहीं, जैनेतर ग्रन्थों में भी व्यापक रूप से मिलती है। इस सन्दर्भ में श्री वी. जी नायर ने लिखा है—

Adi Bhagavan was the organiser of human society and the originator of human culture and civilization. He lived in the days of hoary antiquity. Adi Bhagavan was the first monarch, ruler, ascetic, saint, sage, omniscient teacher, law maker and architect of humanism and humanitarianism.

भागवत पुराण में भी उनकी स्तुति मिलती है जो इस प्रकार है—

नित्यानुभूत निज लाभ निवृत्ति तृष्णः

श्रेयस्यतद्वचनया चिर सप्त बुद्धेः

लोकस्य यः करुणाऽभय मात्मलोक

माख्यान्न मो भगवते ऋषभाय तस्मै।

(भागवत पुराण)

निरन्तर विषय भोगों की अभिलाषा करने के कारण अपने वास्तविक श्रेय से चिरकाल तक बेसुध हुए लोगों को जिन्होंने करुणावश निर्भय आत्म लोक का संदेश दिया और जो स्वयं निरन्तर अनुभव होने वाले आत्मस्वरूप की प्राप्ति के कारण सब प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त थे उन भगवान् ऋषभ देव को नमस्कार हो।

भागवतपुराण का यह श्लोक ऋषभ संस्कृति को दर्शाता है साथ ही उनके अति प्राचीन होने का भी संदेश देता है। ऋषभदेव को सिर्फ जैन परम्परा ही नहीं वरन् वैदिक परम्परा भी उनको शलाका पुरुष मानती है। वेदों और पुराणों में उनके उल्लेख इसकी निश्चित तौर पर पुष्टि करते हैं और अनेकों साहित्यिक प्रमाण इस विषय में आज भी उपलब्ध हैं। ऋग्वेद व अथर्ववेद में ऐसे अनेक मन्त्र हैं, जिनमें ऋषभदेव की स्तुति अहिंसक, आत्म-साधकों में प्रथम, 'अवधूत चर्या' के प्रणेता तथा मर्त्याँ में सर्वप्रथम अमरत्व अथवा महादेवत्व पाने वाले महापुरुष के रूप में की गई है। एक स्थान पर उन्हें ज्ञान का आगार तथा दुःखों व शत्रुओं का विध्वंसक बताते हुए कहा गया है—

असूत पूर्वो वृषभो ज्यायानिमा अस्य शुरुधः सन्ति पूर्वीः।

दिवो नपाता विदथस्य धीमिः क्षत्रं राजना प्रदिवो दधाथे॥

(ऋग्वेद, म. ३ सू. ३८)

जिस प्रकार जल से भरा हुआ मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है और जो पृथ्वी की प्यास को बुझा देता है, उसी प्रकार पूर्वी अर्थात् ज्ञान के प्रतिपादक वृषभ महान् हैं। उनका शासन वरद है। उनके शासन में ऋषि-परम्परा से प्राप्त पूर्व का ज्ञान आत्मा के क्रोधादि शत्रुओं का विध्वंसक हो। दोनों (संसारी और शुद्ध) आत्माएँ अपने ही आत्म-गुणों में चमकती हैं; अतः वे ही राजा हैं, वे पूर्ण ज्ञान के आगार हैं और आत्म-पतन नहीं होने देते। ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र में उपदेश और वाणी की पूजनीयता तथा शक्ति सम्पन्नता के साथ उन्हें मनुष्यों और देवों में पूर्वयावा माना गया है—

मखस्य ते तविषस्य प्र जूतिमियर्मि वाममृताय भूषन्।

इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा।।

(ऋग्वेद, म. ३ अ. २ सू. ३४)

हे आत्मद्रष्टा प्रभो! परम् सुख पाने के लिये मैं तेरी शरण में आता हूँ, क्योंकि तेरा उपदेश और वाणी पूज्य और शक्तिशाली है। उनको अब मैं धारण करता हूँ। हे प्रभो! सभी मनुष्यों और देवों में तुम्हीं पहले पूर्वयावा (पूर्वगत ज्ञान के प्रतिपादक) हो।

यजुर्वेद में लिखा है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य पंथा विद्यतेऽयनाय।।

(यजुर्वेद अ. ३१, मंत्र ८)

मैंने उस महापुरुष को जाना है, जो सूर्य के समान तेजस्वी, अज्ञानादि अन्धकार से दूर है। उसी को जानकर मृत्यु से पार हुआ जा सकता है, मुक्ति के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है।

ॐ नमोऽर्हन्तो ऋषभो (यजुर्वेद)

अर्हन्त नाम वाले पूज्य ऋषभदेव को प्रणाम हो।

अथर्ववेद में ऋषभ को भवसागर से पार उतारनेवाला कहकर उसकी स्तुति की गई है—

अहोमुचं वृषभ यज्ञियानां विराजन्त प्रथममध्वराणाम्।

अपां नपातमश्विना हुँवेधिय हुँवेधिय त इन्द्रियंदत्तभोज॥

(दत्तभोज/अथर्ववेद १९.४२.४)

समस्त पापों से मुक्त, यज्ञमें अवस्थित प्रथम राजा, आदित्यस्वरूप श्री ऋषभदेव को मैं आह्वान करता हूँ। वे मुझे बुद्धि और इन्द्रियों के साथ बल प्रदान करें।

ऋग्वेद में भगवान् ऋषभदेव को अनन्तचतुष्टय का धारी प्रतिपादित किया है —

चत्वारि शृंङ्गा त्रयो अस्य पादा, द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति, महा देवो मर्त्याँ आ विवेश॥

(ऋग्वेद म. ४ अ. ५ सू. ५८)

ऋषभदेव के अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप चार श्रृंग है। उनके सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र रूपी पद (चरण) हैं। उच्चासन अर्थात् केवलज्ञान एवं मुक्ति रूपी दो शीर्ष हैं। सप्तभंगी रूप सात हाथ है। मन वचन कार्यरूपी तीन योगों से बंधकर जीव संसारी हो जाता है और इन तीनों का निरोधकर तपस्या कर यह आत्मा परमात्मा बन जाता है।

आगे पुनः स्तुति करते हुए कहते हैं—

एवा बभ्रो वृषभ चेकितान, यथा देव ना ह्वणीषे न हंसि।

(ऋग्वेद मं. २ सू. ३३)

हे शुद्ध, दीप्तिमान सर्वज्ञ वृषभ! हमारे ऊपर ऐसी कृपा करो कि हम जल्दी नष्ट न हों और न किसी को नष्ट करो।

कल्याण के संत अंक में लिखा है—

परम भगवत भक्त राजर्षि भरत भगवान् ऋषभदेव के सौ पुत्रों में सबसे बड़े थे। उन्होंने पिता की आज्ञा से राज्यभार स्वीकार किया था। उन्हीं के नाम पर इस देश का नाम भारत वर्ष या भरत खण्ड कहलाया।

(कल्याण का संत अंक, प्रथम खण्ड वर्ष १२,)

स्वामी अखंडानन्द सरस्वती ने (गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित) अपने ग्रन्थ की टीका में लिखा है—

ऋषभदेव को पुराणों में भगवान् वासुदेव का अंश कहा है और ऋषभदेव का अवतार माना है। इसका क्या प्रयोजन है? यह स्पष्ट करते हुए स्वामीजी ने लिखा है “मोक्षमार्ग विवक्षया अवतीर्णम्” अर्थात् मोक्षमार्ग का उपदेश देने के लिये ऋषभदेव ने अवतार लिया था। संसार की लीला दिखाने के लिए नहीं।

भगवान् ऋषभदेव ने जिस ज्ञानधारा का उपदेश दिया, उसे उपनिषद् में परा-विद्या अर्थात् श्रेष्ठ विद्या माना गया है।

हिन्दुओं के प्रसिद्ध योगशास्त्र ग्रन्थ ‘हठयोग प्रदीपिका’ में मंगलाचरण करते हुए लेखक ने भगवान् आदिनाथ की स्तुति की है—

श्री आदिनाथाय नमोस्तु तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोग विद्या।

विभ्राजते प्रोन्नतराज योग, मारोद्भुमिच्छोरधिरोहिणीव।।

श्री आदिनाथ को नमस्कार हो। जिन्होंने उस हठयोग विद्या का, सर्वप्रथम उपदेश दिया, जोकि बहुत ऊंचे, राजयोग पर आरोहण करने के लिये, नसैनी के समान है।

(वीरज्ञानोदय ग्रन्थमाला)

तीर्थंकर ऋषभदेव योग प्रवर्तक थे। कैलाश (अष्टापद) पर उन्होंने जो साधना की वे अत्यन्त रोमांचक होने के साथ साथ अनेक पद्धतियों की आविर्भावक भी थी। वे प्रथम योगी बन गये। उनके माता-पिता का नाम मेरु और नाभि भी योग से सम्बद्ध है। अर्थात् नाभि और मेरु से उत्पन्न होने वाला ऋषभ। जो नाभि और मेरु से उत्पन्न होगा, वह विशेष ऊर्जा सम्पन्न होगा। यह ऊर्जा चेतना की ही हो सकती है। अतः ऋषभ श्रेष्ठ है। श्रीमद् भागवत में ऋषभ देव की योगचर्या की विस्तृत चर्चा की गयी है।

(मुनि महेन्द्र कुमारजी)

वी. जी. नैय्यर ने अपने ग्रन्थ में लिखा है—

द्रविड़ श्रमण धर्म के अनुयायी थे। श्रमणधर्म का उपदेश ऋषभदेव ने दिया था। वैदिक आर्यों ने, उन्हें जैनों का प्रथम तीर्थंकर माना है। मनु ने द्रविड़ों को व्रात्य कहा है, क्योंकि वे जैनधर्मानुयायी थे।

(दि इन्डस वैली सिविलाइजेशन एण्ड ऋषभ)

‘शतपथ ब्राह्मण’ में लिखा है—

व्रतधारी होने के कारण (अरिहंत) अर्हत् के उपासकों को व्रात्य कहते थे। वे प्रत्येक विद्याओं के जानकार होने के कारण द्राविड़ नाम से प्रसिद्ध थे। ये बड़े बलिष्ठ, धर्मनिष्ठ, दयालु और अहिंसा धर्म को मानने वाले थे। ये अपने इष्टदेव को वृत्र (सब ओर से घेरकर रहने वाला सर्वज्ञ) अर्हन् सर्व आदरणीय परमेष्ठी, परमसिद्धि के मालिक, जिन, संसार के विजेता, शिव आनंदपूर्ण, ईश्वर, महिमापूर्ण आदि नामों से पुकारते थे। ये आत्मशुद्धि के लिये अहिंसा, संयम और तपोनिष्ठ मार्ग के अनुयायी, तथा ये केशी (जटाधारी) शिश्नदेव (नग्न साधुओं) के उपासक थे।

(अनेकान्त वर्ष १२, किरण ११)

इत्थं प्रभाव ऋषभोऽवतारः शंकरस्य मे।

सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितस्तव ॥ ४७

ऋषभस्य चरित्रं हि परमं पावनं महत्।

स्वर्ग्य यशस्यमायुष्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ॥ ४८

(शिव पुराण)

मेरे इन नवम ऋषभ अवतार का ऐसा प्रभाव होता है जो सदा सत्पुरुषों का उद्धारक-दीनों का बन्धुरूप हुआ है। मैंने तुमको इसे सुना दिया है। यह ऋषभ चरित्र मानवों को पवित्र बना देने वाला, स्वर्ग सुख प्रदाता और यश तथा आयु की वृद्धि करने वाला है। इसे सबको यत्न के साथ अवश्य श्रवण करना चाहिए।

‘आर्यमंजुश्री मूल कल्प’ में भारत के प्राचीनतम सम्राटों में नाभिराय के पौत्र सम्राट भरत को बताया गया है। उसमें लिखा है— नाभि के पुत्र

भगवान् ऋषभदेव ने हिमालय में तप द्वारा सिद्धि प्राप्त की थी, और वे जैनधर्म के आद्यदेव थे—

प्रजापते सुतो नाभिः तस्यापि आगमुच्यति।

नाभिनो ऋषभपुत्रो वै सिद्धकर्म दृढव्रतः॥

तस्यापि मणिचरो यक्षः सिद्धो हेमवते गिरौ।

ऋषभस्य भरतः पुत्रः सोऽपि मज्जतात् सदा जपेत्॥

इसी ग्रन्थ में एक स्थान में कपिल का भी उल्लेख है। ‘कपिल मुनिनाम ऋषि वरो, निर्ग्रन्थ तीर्थंकर ऋषभ निर्ग्रन्थ रूपि।’

जैन शास्त्रों में ऋषभदेव का वर्णन बहुत कुछ वेदों और पुराणों के अनुसार ही मिलता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जिन ऋषभदेव की महिमा वेदान्तियों के ग्रन्थों में वर्णन है, जैनी भी उन्हीं ऋषभदेव को पूजते हैं, दूसरे को नहीं।

दर्शयन् वर्त्म वीराणां सुरासुरनमस्कृतः।

नीतित्रयस्य कर्ता यो युगादौ प्रथमो जिनः॥

सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वदेवनमस्कृतः।

छत्रत्रयीभिरापूज्यो मुक्तिमार्गमसौ वदन्॥

आदित्यप्रमुखाः सर्वे बद्धाञ्जलिभिरीशितुः।

ध्यायन्ति भावतो नित्यं यदंघ्रियुगनीरजम्॥

कैलासविमले रभ्ये ऋषभोयं जिनेश्वरः।

चकार स्वावतारं यो सर्वः सर्वगतः शिवः॥

(श्री नागपुराण)

वीर पुरुषों को मार्ग दिखाते हुए सुर असुर जिनको नमस्कार करते हैं जो तीन प्रकार की नीति के बनाने वाले हैं, वह युग के आदि में प्रथम जिन अर्थात् आदिनाथ भगवान् हुए, सर्वज्ञ (सबको जानने वाले), सबको देखने वाले, सर्व देवों के पूजनीय, छत्रत्रय करके पूज्य, मोक्षमार्ग का व्याख्यान कहते हुए, सूर्य को

प्रमुख रखकर सब देवता सदा हाथ जोड़कर भाव सहित जिसके चरणकमल का ध्यान करते हुए ऐसे ऋषभ जिनेश्वर निर्मल कैलाश पर्वत पर अवतार धारण करते भये जो सर्वव्यापी हैं और कल्याणरूप हैं ॥

अष्टषष्टिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत् ।

आदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद्भवेत् ॥

(शिवपुराण)

अड़सठ (६८) तीर्थों की यात्रा करने का जो फल है, उतना फल श्री आदिनाथ के स्मरण करने ही से होता है ।

अग्निध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः ।

ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताद् वरः ॥ ३९

सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं, महाप्राव्राज्यमास्थितः ।

तपस्तेपे महाभागः, पुलहाश्रमसंशयः ॥ ४०

हिमाह्वं दक्षिणं वर्ष, भरताय पिता ददौ ।

तस्मात्तु भारतं वर्ष, तस्य नाम्ना महात्मनः ॥ ४१

(मार्कण्डेयपुराण, अध्याय ४०)

हिमाह्वयं तु यद्वर्ष, नाभेरासीन्महात्मनः ।

तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो, मेरुदेव्या महाद्युतिः ॥ ३७

ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रः शताग्रजः ।

सोऽभिषिच्यर्षभःपुत्रं भरतं पृथिवीपतिः ॥ ३८

(कुर्मपुराण, अध्याय ४०)

जरामृत्युभयं नास्ति, धर्माधर्मो युगादिकम् ।

नाधर्मं मध्यमं तुल्या, हिमादेशात्तु नाभितः ॥ १०

ऋषभो मरुदेव्या च, ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।

ऋषभोदात्तश्रीपुत्रे, शाल्यग्रामे हरिर्गतः ॥ ११

भरताद् भारतं वर्ष भरतात् सुमतिस्त्वभूत् । . . .

(अग्निपुराण अध्याय १०)

नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं, मरुदेव्या महाद्युतिः ।

ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं, सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥ ५०

ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताग्रजः ।

सोऽभिषिच्यथ भरतं, पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः ॥ ५१

हिमाह्वं दक्षिणं वर्ष, भरताय न्यवेदयत् ।

तस्माद् भारतं वर्ष तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥ ५२

(वायुमहापुराण पूर्वार्ध, अध्याय ३३)

नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्या महाद्युतिम् ॥ ५९

ऋषभं पार्थिवं श्रेष्ठं, सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ।

ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ॥ ६०

सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं, महाप्राव्राज्यमास्थितः ।

हिमाह्वं दक्षिणं वर्ष, तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥ ६१

(ब्रह्माण्डपुराण पूर्वार्ध, अनुषङ्गपाद, अध्याय १४)

नाभिर्मरुदेव्यां पुत्रमजनयत् ऋषभनामानं,

तस्य भरतः पुत्रश्च तावदग्रजः तस्य भरतस्य पिता

ऋषभः हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्ष महद् भारतं नाम शशास ।

(वराहपुराण, अध्याय ७४)

नाभेर्निसर्गं वक्ष्यामि, हिमांकेऽस्मिन्निबोधत ।

नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं, मरुदेव्यां महामतिः ॥ १९

ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं, सर्वक्षत्रस्य पूजितम् ।

ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताग्रजः ॥ २०

सोऽभिषिच्यथ ऋषभो, भरतं पुत्रवत्सलः ।

ज्ञानं वैराग्यमाश्रित्य, जितेन्द्रियमहोरगान् ॥ २१

सर्वात्मनात्मन्यास्थाप्य, परमात्मानमीश्वरम् ।
नग्नो जटो निराहारोऽचीरी ध्वान्तगतो हि सः ॥ २२
निराशस्त्यक्तसंदेहः शैवमाप परं पदम् ।
हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्ष भरताय न्यवेदयत् ॥ २३
तस्मात्तु भारतं वर्ष, तस्य नाम्ना विदुर्बधाः ।

(लिंगपुराण, अध्याय ४७)

न तेष्वस्ति युगाव क्षेत्राष्वष्टसु सर्वदा ॥ २६
हिमाह्वयं तु वै वर्ष नाभेरासोन्महात्मनः ।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्यां महाद्युतिः ॥ २७
ऋषभाद्भरतो जज्ञ ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः ।
कृत्वा राज्यं स्वधर्मेण तथेष्टा विविधान्मखान् ॥ २८
अभिषिच्य सुतं वीरं भरतं पृथिवीपतिः ।
तपसे स महाभागः पुलहस्याश्रम ययौ ॥ २९

(विष्णुपुराण, द्वितीयांश अध्याय १)

महात्मा नाभि हिमनामक वर्ष के स्वामी थे, उनकी पत्नी मेरुदेवी से अत्यन्त कान्तिवाला ऋषभ नामक एक पुत्र हुआ। ऋषभ के एक सौ पुत्र हुए, जिनमें भरत सबसे बड़े थे। महाभाग राजा ऋषभदेव धर्मपूर्वक राज्य चलाते हुए अनेक यज्ञों के अनुष्ठान करके अन्त में भरत को राज्य देकर तप करने के लिए पुलहाश्रम को गये।

नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ॥ ५७

(स्कन्धपुराण, माहेश्वरखण्ड, कौमारखण्ड, अध्याय ३७)

कुलादि बीजं सर्वेषां प्रथमो विमलवाहनः ।
चक्षुष्मान् यशस्वी वाभिचन्द्रोऽथ प्रसेनजित् ॥
मरुदेवश्च नाभिश्च, भरते कुल सप्तमाः ।
अष्टमी मरुदेव्यां तु, नाभेर्जात उरुक्रमः ॥

दर्शयन् वर्त्म वीराणां सुरासुरनमस्कृतः ।
नीति त्रितयकर्ता यो, युगादौ प्रथमो जिनः ॥

(मनुस्मृति)

इन सभी उदाहरणों से ऋषभदेव की ऐतिहासिक प्रामाणिकता में कोई भी संदेह नहीं रह जाता है। ये सभी प्रमाण स्पष्ट करते हैं कि नाभि और मरुदेवी के पुत्र ऋषभ थे। जो योग में, तप में, क्षत्रियों में, राजाओं में श्रेष्ठ थे तथा हिमालय के दक्षिण क्षेत्र को उन्होंने अपने पुत्र भरत को सौंप दिया। और भरत के नाम से ही इस क्षेत्र का नाम भारतवर्ष पड़ा।

आज से लगभग दो हजार वर्ष प्राचीन शिलालेख जो मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त हुए हैं वो भी उस समय ऋषभदेव की पूजा प्रचलित थी इसका प्रमाण है। Prof. George Buhler ने Epigraphica Indica में इन शिलालेखों का वर्णन किया है जिनमें दो का यहाँ उल्लेख कर रहे हैं।

A. भगवतो उसभस वारणे गणे नाडिके कुले. . . सा (पं)

B. दुक सवायक ससि सिनए सादिता एनि— ॥

भगवान् उषभ (ऋषभ) की जय हो सादिता की प्रार्थना पर जो वारणगण के उपदेश, नांदिक कु ओर शाखा के – धुल की चेली थी—

A. सिद्धम् म (हा) रा (ज) स्यर (जा) तिराजस्य देव-पुत्रस्य हुवष्कस्य स ४० (६०१) हेमंतमासे ४ दि १० एतस्यां पूर्वायां को दिये गणे स्थानिकीये कुल अय्य (वेरी) पाण शाखाया वाचस्यार्थ वृद्ध हस्ति (स्य)

B. शिष्यस्य गणिस्य आर्यस्व (र्ण) स्य पुय्यम (न)

(स्य) (व) तकस्य

C. सकस्य कुटुम्बिनी ये दत्ताये—न धर्म्मो महा भागो गताय प्रीयताम्भगवानृषभ श्रीः

जय ! प्रसिद्ध राजा महाराजाधिराज देव पुत्र हुवस्क के संवत् ४० (६०१) में हेमंत के चतुर्मास की दशमी को इस ऊपर लिखी हुई मिति को यह उत्कृष्ट दान वनिता निवासी का. . . पासक की स्त्री दत्ता ने पूज्य वृद्ध हस्ति आचार्य जो कोत्तियगण, शाकिनीय कुल और आर्यवज्री शाखा में से था उसके शिष्य माननीय रचरत्न गणी की प्रार्थना पर किया था भगवान् श्री ऋषभ प्रसन्न हों।

जिस प्रकार जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से ही मानव सभ्यता के विकास का प्रारम्भ मानती है, उसी प्रकार अन्य सभी परम्पराओं में भी यही मान्यता कहीं प्रत्यक्ष तो कहीं अप्रत्यक्ष रूप से स्थापित है। अतः यह निर्विवाद है कि मानव सभ्यता और संस्कृति के आदि जनक ऋषभदेव थे। इस विषय में Dr. Stella Gardner ने लिखा है—

The ancient rhythm of history have been vibrant enough to focus enough light on Jainism. As Risabh or Brisabh as he is generally known has been one of the most remarkable historical person of all times. It was he who changed the forms of society as more scientific one than it was in its primitive stage.

(Formation of Identity and Other Essays Pg. 313).

ऋग्वेद के गवेषणात्मक अध्ययन के आधार पर प्रसिद्ध विद्वान श्री सागरमल जी ने 'अर्हत् और ऋषभवाची ऋचायें' नामक लेख में लिखा है—

ऋग्वेद में न केवल सामान्य रूप से श्रमण परम्परा और विशेष रूप से जैन परम्परा से सम्बन्धित अर्हत्, अरहन्त, ब्राह्म, वातरसनामुनि, श्रमण आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है अपितु

उसमें अर्हत् परम्परा के उपास्य वृषभ का भी उल्लेख शताधिक बार मिलता है। मुझे ऋग्वेद में वृषभवाची ११२ ऋचाएँ प्राप्त हुई हैं। सम्भवतः कुछ और ऋचाएँ भी मिल सकती हैं। यद्यपि यह कहना कठिन है कि इन सभी ऋचाओं में प्रयुक्त वृषभ शब्द ऋषभ देव का ही वाची है, फिर भी कुछ ऋचाएं तो अवश्य ऋषभदेव से सम्बन्धित ही मानी जा सकती हैं। डॉ. राधाकृष्णन, प्रो. जिम्मर, प्रो. वार्डियर आदि कुछ जैनेतर विद्वान इस मत के प्रतिपादक हैं कि ऋग्वेद में जैनों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से संबंधित निर्देश उपलब्ध होते हैं। बौद्ध साहित्य के धम्मपद में उन्हें (उसभं पवरं वीरं - ४२२) कहा गया है।

Prof Nathmal Kedia के अनुसार-

Change in times and these positive effects have quite a number of times been contrary to the effects of society. Because of the changes in society the basic mores and systematic social strata were dwindling in ancient times. Jainism was one of the most important religions of the world which emancipated the humanistic theory thereby ethically evaluating the social strata. Rishabh Deva and Bharat along with their descendents who reigned in the primeval Indian soil, totally changed the face of society in this very ethical manner. They believed that human being was the supreme and nothing existed beyond this facade, no Godheads or Gods whatsoever.

(Religion and Society, edited by Prof Friedrich Stam, Pg 12)

अग्नि की स्तुति के लिये वैदिक सूत्रों में जिन जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है उनके अध्ययन से स्पष्ट है कि यह अग्निदेव भौतिक अग्नि

न होकर इन्हें ऋषभदेव के लिये अभिहित किया गया है। क्योंकि उनका कर्म अग्नि के समान था। जिस प्रकार सूर्य जीव जगत में प्राण का संचार करता है उसी प्रकार उन्होंने जीव जगत में ज्ञान का संचार किया। 'देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्' देवा अर्थात् अपने को देव संज्ञा से अभिवादन करने वाले आर्यगणों ने द्रविणोदाम् अर्थात् धन ऐश्वर्य प्रदान करने वाले अग्नि को धारयन् अपने आराध्यदेव के रूप में धारण कर लिया यह सूत्र ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इससे पता चलता है कि भगवान् ऋषभदेव वैदिक संस्कृति के पूर्व के आराध्य देव थे। क्योंकि जीव जगत का स्रोत अग्नि है, सूर्य के बगैर यह संसार नहीं चल सकता उसी तरह इस आरे में मनुष्यों के सारे संस्कार ऋषभदेव द्वारा किये गये इसलिये उनकी तुलना सूर्य और अग्नि से की जाती है। अग्नि जीव जगत का प्राण है उसी प्रकार इस जीव जगत में मनुष्य के हर संस्कार का प्राण ऋषभदेव ही है।

'आपश्र मित्रं' (जो संसार का मित्र है।) 'धिषणा च साधन' (जो ध्यान द्वारा साध्य है), 'प्रन्नथा' (जो पुरातन है), 'सहसा जायमानः' (जो स्वयं भू है) 'सद्यः काव्यानि बडधत् विश्वा' (जो निरन्तर विभिन्न काव्य स्तोत्रों को धारण करता है, अर्थात् जिसकी सभी जन स्तुति करते रहते हैं), 'देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्' (देवों ने उस द्रव्यदाता अग्नि को धारण कर लिया।)

'पूर्वया निविदा कव्यतायोः' (जो प्राचीन निविदों द्वारा स्तुति किया जाता है), 'रिमा; प्रजा अजनयन्मनुनाम्' (जिसने मनुओं की सन्तानीय प्रजा की व्यवस्था की) 'विवस्वता चक्षसा द्यामपश्र' (जो अपने ज्ञान द्वारा द्यु और पृथ्वी को व्याप्त किए हुए हैं, देवों ने उस द्रव्यदाता को धारण कर लिया।)

'तमीडत प्रथमं यज्ञसाधं' (तुम उसकी स्तुति करो जो सर्वप्रथम मोक्ष का साधक है), 'विश आरीराहुत भृज्जसानम्' (जिसने

स्वयं शरण में आने वाली प्रजा को बल से समृद्ध करके), 'पुत्रं भरतं सृप्रदानुं' (अपने पुत्र भरत को सौंप दिया), 'देवों ने उस द्रव्यदाता अग्नि' (अग्नि देवता को) 'धारयन्' (धारण कर लिया।)

'स मातरिश्वा' (वह वायु के समान निर्लेप और स्वतन्त्र है), 'पुरुवारपुष्टि' (अभीष्ट वस्तुओं का पुष्टिकारक साधन है), 'उसने स्वर्वित' (ज्ञान सम्पन्न होकर), 'तनयाय' (पुत्र के लिए) 'गातुं' (विद्या), 'विर्दद' (देदी), 'वह विशां गोपा' (प्रजाओं का संरक्षक है,) 'जनिता रोदस्योः' (अभ्युदय तथा निःश्रेयस का उत्पादक है), 'देवों ने उस द्रव्यदाता अग्नि' (अग्रनेता को) ग्रहण कर लिया।

(मण्डल १ सूत्र १६ सं. १ से ४)

ऋग्वेद के ये सूत्र ऋषभदेव और अग्नि तथा सूर्य की समानता को स्पष्ट करते हैं। स्वर्गीय डॉ. नरेन्द्र विद्यार्थी ने ऋग्वेद के इस प्रथम श्लोक जो अग्नि को सम्बोधित है के साथ भी शब्द और भाव साम्य दोनों बताया है।

ॐ अग्नि मीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।

होतारं रत्नधातमम्, अग्निः

पूर्वेभिर्ऋषिभि रीडयो नूतनैरूत, स देवां एह वक्षति।

(अष्टक १ अ. १ वर्ग १)

मैं अग्रनेता ब्रह्मा की स्तुति करता हूँ जो अग्र हितैषी हैं जो सभी कार्यों के आदि में पूज्य माने जाते हैं, जो युक्ति साधना के आदर्श है, जो रत्नत्रय धारी है, जो जनम-मरण रूप संसार को हवि देने वाले है, जो धर्म संस्थापक है वह अग्रनेता पुराने और नये सभी ऋषियों द्वारा स्तुत्य है वह मुझे आत्मशक्ति प्रदान करें।

श्री ए.एच. आहुवालिया के अनुसार—

‘They worshipped Agni knowing that it was the terrestrial representative of the mighty Sun, the source of all power and life giver argumentor of all precious things.’ — A.H. Ahuwalia.

इसी प्रकार सामवेद १-१ में लिखा है कि—

अग्न आ याहि वतिये गृणानो हव्यदातये नि होता सत्सि बर्हिर्षि
Agni come! come for the good of us all. Come, be anxious
to participate in all that we have to offer you.

यह सभी श्लोक स्पष्ट करते हैं कि ऋषि गण भौतिक अग्नि का आह्वान नहीं कर रहे वरन् जो दिखाई नहीं देती ऐसी सर्वोच्च सिद्ध शक्ति का आह्वान कर रहे हैं।

‘उड़ीसा में जैन धर्म’ किताब की भूमिका में नीलकण्ठ साहू ने लिखा है—

जगन्नाथ जैन शब्द है और ऋषभनाथ के साथ इसकी समानता है। ऋषभनाथ का अर्थ है सूर्यनाथ या जगत का जीवन रूपी पुष्प। ऋषभ यानि सूर्य होता है। यह प्राचीन बेबीलोन का आविष्कार है। प्रो. सर्ई ने अपने Hibbert Lectures (1878) में स्पष्ट कहा है कि इसी सूर्य को वासन्त विषुवत में देखने से लोगों ने समझा कि हल जोतने का समय हो गया है। वे वृषभ अर्थात् बैलों से हल जोतते थे इसलिये कहा गया कि वृषभ का समय हो गया। इस दृष्टि से लोक भाषा में सूर्य का नाम ऋषभ या वृषभ हो गया। उससे पूर्व सूर्य जगत का जीवन है यह धारणा लोगों में बद्धमूल हो गयी थी। अतः ऋषभ की और सूर्य की उपासना का ऐक्य स्थापित हो गया। इस प्रकार नीलकण्ठ साहू ने उड़ीसा से बेबीलोन तक व्याप्त ऋषभ—संस्कृति को व्यक्त किया है।

इसके आगे वे लिखते हैं कि अति प्राचीन वैदिक मंत्र में भी कहा है— सूर्य आत्मा जगत् स्तस्थुषश्च। (ऋग्वेद १-११५-१) सूर्य जगत् का आत्मा या जीवन है। बेबीलोन के निकट जो तत्कालीन प्राचीन मिट्टानी राज्य था वहाँ से यह बात पीछे आयी थी। उस समय मिट्टानी राष्ट्र के राजा (ई० पू० चौदहवीं शताब्दी) दशरथ थे। उनकी बहन और पुत्री दोनों का विवाह मिस्त्र सम्राट के साथ हुआ था। उन्हीं के प्रभाव से प्रभावित होकर चतुर्थ आमान हेटय या आकनेटन् ने आटेन (आत्मान्) नाम से इस सूर्य धर्म का प्रचार किया था और यह ‘सूर्य या जगत् का आत्मा ही परम पुरुष या पुरुषोत्तम है’ ऐसा प्रचार कर एक प्रकार से धर्म में पागल होकर समस्त साम्राज्य को भी शर्त पर लगाने का इतिहास में प्रमाण है। बहुत सम्भव है कि कलिंग में द्रविड़ों के भीतर से ये जगन्नाथ प्रकट हुए हों। मिस्त्रीय पुरुषोत्तम तथा पुरी के पुरुषोत्तम ये दोनों इसी जैन धर्म के परिणाम हैं।

सराक जाति के प्रसंग में भी ऋषभदेव और अग्नि का सम्बन्ध परिलक्षित होता है। सराक जाति में प्रधानतः दो गोत्र पाए जाते हैं ‘आदिदेव’ एवं ‘ऋषभदेव’। हाँ कुछ अल्प संख्यक सराकों में अवश्य किसी और गोत्र का परिचय मिलता है पर वे नगण्य ही हैं। प्रधानता आदिदेव एवं ऋषभदेव की ही है। आदिदेव ऋषभदेव का ही एक अन्य नाम है। स्मरणातीत काल से ही मनुष्य अपने जाति एवं गोत्र को जानता रहा है। मानवों का एक-एक समूह इतिहास के संधि स्थलों पर जिस युगपुरुष के माध्यम से परिचालित हुआ है, जिनके प्रवर्तित अनुशासन एवं रीत-नीतियों को माना है, जिनके निकट दीक्षित हुए हैं—वहीं उस समूह के गोत्रपिता कहलाए एवं इस गोत्र परिचय के फलस्वरूप हजारों हजार वर्षों बाद भी मनुष्य अपने-अपने गोत्र के लोगों को अच्छी तरह पहचान लेते हैं।

सराक जाति के गोत्रपिता ऋषभदेव थे, इसीलिए निस्सन्देह रूप से कहा जा सकता है कि इनके पूर्व पुरुष भगवान ऋषभदेव के अत्यन्त ही निकट के व्यक्ति थे, ऐसा भी हो सकता है कि उनके साथ उन लोगों का खून का रिश्ता भी रहा हो। इसीलिए, ऋषभदेव द्वारा प्रचलित अनुशासन उनके लिए सर्वथा पालन करने योग्य था।

‘सराक’ शब्द का साधारण अर्थ होता है ‘श्रावक’ अर्थात् श्रमणकारी। पाश्चात्य पण्डितों ने ही सर्वप्रथम इस अर्थ को प्रचलित किया। यद्यपि पूरे विश्व में एवं हमारे देश में भी प्रागैतिहासिक युग से ही अधिकांश जातियों के नाम उस जाति के जातिगत पेशे और उसके आदिभूमि के आधार पर रखे गए हैं। इस दृष्टि से भी हम देख सकते हैं कि सराक, सराग, सराकी, सरापी तथा सरोगी आदि शब्द सर + आग या सर + आगी से आए हैं। सर शब्द का अर्थ होता है निःसृत होना एवं आगि अथवा आगी का अर्थ होता है अग्नि। अतएव सराग व सरागी शब्दों का अर्थ है **अग्नि से निःसृत** अथवा जो अग्नि से कुछ निःसृत कराते हैं।

नव पाषाण युग के अन्तिम समय तक मनुष्य यही जानता था कि अग्नि सब कुछ ध्वंस कर देती है। पर अचानक ही आश्चर्य के साथ उन्होंने देखा कि ऋषभ पुत्रगणों ने अग्नि से ध्वंस हुए मलवों से कुछ महामूल्यवान पदार्थ निःसृत किये। इसीलिए, शायद इन्हें सराग कहा गया हो। सरागी अथवा अग्निपुत्र के रूप में यह जाति श्रेष्ठ सम्मान से विभूषित हुई।

(पूर्वाचल में सराक संस्कृति और जैन धर्म — तित्थयर)

अग्नि प्रयोग के साथ साथ कृषि का ज्ञान भी ऋषभदेव ने दिया था। इस सन्दर्भ में कर्नल टॉड ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ‘राजस्थान का इतिहास’ में ऋषभदेव और नूह के साम्य के विषय में उल्लेख करते हुए लिखा है—

‘Arius Montanus’ नामक महाविद्वान ने लिखा है नूह कृषि कर्म से प्रसन्न हुआ और कहते हैं इस विषय में वह सबसे बढ़ गया। इसलिए उसी की भाषा में वह **इश आद मठ** अर्थात् भूमि के काम में लगा रहनेवाला पुरुष कहलाया। इश-आद-मठ का अर्थ पृथ्वी का पहला स्वामी होता है।

आगे टॉड साहब कहते हैं—

उपर्युक्त पदवी, प्रकृति और निवास स्थान जैनीयों के प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ के वृत्तांत के साथ ठीक बैठ सकते हैं जिन्होंने मनुष्यों को खेती बाड़ी का काम और अनाज गाहने के समय बैलों के मुंह को छीकी लगाना सिखाया।

यह आश्चर्य का विषय है कि ऋषभदेव के विषय में इतने उल्लेख प्राप्त होने के बाद भी कुछ विद्वान इस सत्यता को स्वीकारने से कतराते हैं इसका कारण या तो उनकी अज्ञानता है या धार्मिक विद्वेष। प्रो. विरुपाक्ष वार्डियर, एम. ए. वेदतीर्थ आदि विद्वानों ने ऋग्वेद में वर्णित ऋषभदेव को आदि तीर्थंकर ऋषभ ही स्वीकार किया है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से प्राप्त सीलों से भी आज से ५००० वर्ष पहले भी ऋषभदेव की मान्यता के पुष्ट प्रमाण मिले हैं।

मोहनजोदड़ो से कुछ नग्न कायोत्सर्ग योगी मुद्राएं मिली हैं, उनका संबंध जैन संस्कृति से हैं। इसे प्रमाणित करते हुए स्व. राय बहादुर प्रो. रमा प्रसाद चन्दा ने अपने शोधपूर्ण लेख में लिखा है—

सिंधु मुहरों में से कुछ मुहरों पर उत्कीर्ण देवमूर्तियां न केवल योग मुद्रा में अवस्थित हैं वरन् उस प्राचीन युग में सिंधु घाटी में प्रचलित योग पर प्रकाश डालती हैं। उन मुहरों में खड़े हुए देवता योग की खड़ी मुद्रा भी प्रकट करते हैं और यह भी कि कायोत्सर्ग मुद्रा आश्चर्यजनक रूप से जैनों से संबंधित है। यह मुद्रा बैठकर ध्यान करने की न होकर खड़े होकर

ध्यान करने की है। आदि पुराण के सर्ग अठारह में ऋषभ अथवा वृषभ की तपस्या के सिलसिले में कायोत्सर्ग मुद्रा का वर्णन किया गया है। मथुरा के कर्जन पुरातत्व संग्रहालय में एक शिला फलक पर जैन ऋषभ की कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी हुई चार प्रतिमाएं मिलती हैं, जो ईसा की द्वितीय शताब्दी की निश्चित की गई हैं। मथुरा की यह मुद्रा मूर्ति संख्या १२ में प्रतिबिंबित है। प्राचीन राजवंशों के काल की मिश्री स्थापत्य में कुछ ऐसी प्रतिमाएं मिलती हैं जिनकी भुजाएं दोनों ओर लटकी हुई हैं। यद्यपि ये मिश्री मूर्तियां या ग्रीक कुरों प्रायः उसी मुद्रा में मिलती हैं, किन्तु उनमें वैराग्य की वह झलक नहीं है जो सिंधुघाटी की इन खड़ी मूर्तियों या जैनों की कायोत्सर्ग प्रतिमाओं में मिलती है। ऋषभ का अर्थ होता है वृषभ और वृषभ जिन ऋषभ का चिन्ह है।

(मार्डन रिव्यू अगस्त १९३२ पृ. १५६-६०)

प्रो. चंद्रा के इन विचारों का समर्थन प्रो. प्राणनाथ विद्यालंकार भी करते हैं। वे भी सिंधु घाटी में मिली इन कायोत्सर्ग प्रतिमाओं को ऋषभदेव की मानते हैं, उन्होंने तो सील क्रमांक ४४९ पर जिनेश्वर शब्द भी पढ़ा है।

It may also be noted that incscription on the Indus seal No. 449 reads according to my decipherment "Jinesh".

(Indian Historical Quarterly, Vol. VIII, No. 250)

इसी बात का समर्थन करते हुए डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी लिखते हैं कि- फलक १२ और ११८ आकृति ७ (मार्शल कृत मोहनजोदड़ो) कायोत्सर्ग नामक योगासन में खड़े हुए देवताओं को सूचित करती हैं। यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या में विशेष रूप से मिलती है। जैसे मथुरा संग्रहालय में स्थापित तीर्थकर ऋषभ देवता की मूर्ति में। ऋषभ का अर्थ है बैल, जो आदिनाथ का लक्षण है।

मुहर संख्या F.G.H. फलक पर अंकित देव मूर्ति में एक बैल ही बना है। संभव है यह ऋषभ का ही पूर्व रूप हो।

(हिन्दू सभ्यता पृ. ३९- जैन धर्म और दर्शन)

इसी बात की पुष्टि करते हुए प्रसिद्ध विद्वान राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं—

मोहनजोदड़ो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थकर ऋषभदेव थे। जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई हैं जैसे कालांतर में वह शिव के साथ समन्वित हो गयीं। इस दृष्टि से जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्तियुक्त नहीं दीखता कि ऋषभदेव वेदोल्लिखित होने पर भी वेद पूर्व हैं।

(संस्कृति के चार अध्याय)

इसी संदर्भ में प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. एम. एल. शर्मा ने लिखा है— मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुहर पर जो चिन्ह अंकित है वह भगवान ऋषभदेव का है। यह चिन्ह इस बात का द्योतक है कि आज से पांच हजार वर्ष पूर्व योग साधना भारत में प्रचलित थी और उसके प्रवर्तक जैन धर्म के आदि तीर्थकर ऋषभदेव थे। सिंधु निवासी अन्य देवताओं के साथ ऋषभदेव की पूजा करते थे।

(भारत में संस्कृति और धर्म)

मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज ने अपने लेख, मोहनजोदड़ो : जैन परम्परा और प्रमाण, में लिखा है—

भगवान् ऋषभदेव का वर्णन वेदों में नाना सन्दर्भों में मिलता है। कई मन्त्रों में उनका नाम आया है। मोहन जोदड़ों (सिन्धुघाटी) में पाँच हजार वर्ष पूर्व के जो पुरावशेष मिले हैं उनसे भी यही सिद्ध होता है कि उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म हजारों साल पुराना

है। मिट्टी की जो सीले वहाँ मिली है, उनमें ऋषभनाथ की नग्न योगमूर्ति है, उन्हें कायोत्सर्ग मुद्रा में उकेरा गया है। विद्वानों के अनुसार प्राचीनकाल से दो धारायें चल रही हैं। आर्हत और बार्हत। पाणिनी ने भी दोनों का उल्लेख करते हुए दोनों में परम्परागत शाश्वत विरोध बताया है। तार्किक दृष्टि से देखे तो मूलधारा एक होती है जिससे बाद में शाखायें प्रशाखाएं निकलती हैं। मुख्य धारा आर्हत संस्कृति थी जो ऋषभदेव से प्रारम्भ हुई और उससे विश्रुंखल हुए लोगों ने अर्थात् जो उसका पालन नहीं कर सके उन्होंने अलग रास्ता अपनाकर विभिन्न धर्मों का प्रारम्भ किया। ऋषभदेव के पौत्र मरीचि के शिष्य कपिल से सांख्य धर्म का प्रारम्भ हुआ और सांख्य धर्म ही बाद में वैदिक धर्म की आधार शिला बना। इसीलिये यदि हम किसी भी धर्म या संस्कृति के मूल स्रोत में जाये तो वहाँ हमें ऋषभ संस्कृति के ही दर्शन होंगे। Hermann Jacobi का इस विषय में यह उल्लेख महत्वपूर्ण है—

The interest of Jainism to the student of religion consists in the fact that it goes back to a very early period, and to primitive currents of religious and metaphysical speculation, which gave rise also to the oldest Indian Philosophies — Sankhya and Yoga and Buddhism.

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल भी इससे सहमत हैं उनके अनुसार— यह सुविदित है कि जैन धर्म की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। भगवान् महावीर तो अन्तिम तीर्थंकर थे—भगवान् महावीर से पूर्व २३ तीर्थंकर हो चुके थे उन्हीं में भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे जिनके कारण उन्हें आदिनाथ कहा जाता है। जैन कला में उनका अंकन घोर तपश्चर्या की मुद्रा में मिलता है। ऋषभनाथ के चरित्र का उल्लेख श्रीमद् भागवत

में भी विस्तार से आता है और यह सोचने को बाध्य होना पड़ता है कि उसका क्या कारण रहा होगा? भागवत में इस बात का भी उल्लेख है कि महायोगी भरत, ऋषभ के शत्रु पुत्रों में ज्येष्ठ थे और उन्हीं से यह देश भारत वर्ष कहलाया।
(जैन साहित्य का इतिहास— प्रस्तावना पृ. ८)

भारतीय दर्शन के पृष्ठ ८८ में श्री बलदेव उपाध्याय लिखते हैं —
“जैन लोग अपने धर्म प्रचारक सिद्धों को तीर्थंकर कहते हैं जिनमें आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव थे। इनकी ऐतिहासिकता के विषय में संशय नहीं किया जा सकता।”

1907 में हेनरी विलियम्स द्वारा सम्पादित ‘Historians History of the World’ ग्रन्थावली के चौबीस खण्डों में एक शब्द भी जैन धर्म या आर्हत संस्कृति के विषय में नहीं मिलता है यहाँ तक कि भारतीय इतिहास खंड में भी जैन धर्म का कोई उल्लेख नहीं है। लेकिन ऋषभ तथा अन्य तीर्थंकरों का वर्णन वहाँ भी है। उसी में इतिहासकार हेरेन ने मिस्र और फिनिशिया के विषय में लिखा है—

The Gods Anat and Reschuf seems to have reached the Phoenecians from North Syria at a very early period. So far indeed, it is only certain that they were worshipped by the Phoenecian colonists on Cyprus. Portraits of these deities are displayed on the monuments of the Egyptians. इस प्रकार के अनेकों संदर्भ तीर्थंकरों से संबन्धित हमें मिले हैं। सीरिया और बेबीलोन की प्राचीन सभ्यता में भी ऋषभ संस्कृति की झलक मिलती है। Thomas Maurice ने अपनी किताब The History of Hindustan, its Art, and its Science में लिखा है—

The Original Sanskrit name of Babylonia is Bahubalaneeya;
The realm of king Bahubali.

यह सर्वविदित है कि बाहुबली ऋषभदेव के पुत्र थे और उनकी मान्यता आज भी चली आ रही है। इसी संदर्भ में वी. जी. नायर ने लिखा है-

“There is authentic evidence to prove that it was the Phoenicians who spread the worship of Rishabha in Central Asia, Egypt and Greece. He was worshipped as ‘Bull God’ in the features of a nude Yogi. The ancestors of Egyptians originally belonged to India. The Phoenicians had extensive cultural and trade relation with India in the pre-historic days. In foreign countries, Rishabha was called in different names like Reshef, Apollo, Tesheb, Ball, and the Bull God of the Mediterranean people. The Phoenicians worshipped Rishabha regarded as Appollo by the Greeks. Reshef has been identified as Rishabha, the son of Nabhi and Marudevi, and Nabhi been identified with the Chaldean God Nabu and Maru Devi with Murri or Muru. Rishabhadeva of the Armenians was undoubtedly Rishabha, the First Thirthankara of the Jains. A city in Syria is known as Reshafa. In Soviet Armenia was a town called Teshabani. The Babylonion city of Isbekzur seems to be a corrupt form of Rishabhapur . . . A bronze image of Reshef (Rishabha) of the 12th century B.C. was discovered at Alasia near Enkomi in Cyprus. An ancient Greek image of Appollo resembled Tirthankara Rishabha. The images of Rishabha were found at Malatia, Boghaz Koi and also in the monument of Isbukjur as the chief deity of the Hittite pantheon. Excavations in Soviet

Armenia at Karmir-Blur near Erivan on the site of the ancient Urartian city of Teshabani have unearthed some images including one bronze statuette of Rishabha”

(Research In Religion.)

Dr. Neol Rating जो स्वयं को जैन कहते हैं, उनके अनुसार—

“The Jainas claim a great antiquity for their faith. It began, they say, with the lord Rsabha, the first teacher of the path of liberation several thousand years ago. This claim is borne out by both the Yajur Veda and the Rig Veda, scriptures of Brahmanism.”

‘प्रो. हाजिमे नाकामुरा’(जापान के प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता) लिखते हैं कि- बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों के चीनी भाषा में जो रूपांतरित संस्करण उपलब्ध है, उनमें यत्र तत्र जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के विषय में उल्लेख मिलते हैं। भगवान् ऋषभदेव के व्यक्तित्व से जापानी भी अपरिचित नहीं है। जापानी ऋषभदेव को रोकशब कहकर पहचानते हैं। ऋषभदेव ने भारत के बाहर भी अपने धर्म का प्रचार किया था।

त्रिशास्त्र संप्रदाय के संस्थापक श्री चित्संग (५४९-६३३ ई.) तैशोत्रिपिटक

(भा० ३३ पृ० १६८) के उद्धरण की विवेचना करते हुए लिखते हैं—

ऋषभ एक तपस्वी ऋषि हैं। उनका उपदेश है कि हमारे शरीर को सुख और दुख का अनुभव पूर्व संचित कर्मों के कारण प्राप्त होता है। इस जीवन में तपस्या द्वारा संचित कर्म समाप्त हो जाता है तो सुख तुरन्त प्रकट होता है। उनके धर्मग्रन्थ **निर्ग्रन्थ** (सूत्र) नाम से प्रसिद्ध हैं, और उनमें हजारों कारिकायें हैं।

षट्शास्त्र में उल्लिखित कपिल, उलूक आदि ऋषियों के बारे में अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए श्री चित्संग ने लिखा है – “उन सब ऋषियों के मत ऋषभदेव के धर्म की शाखाएँ हैं।”

चीन में जैनधर्म का प्रभाव देखने मिलता है। चीनी विद्वान भगवान् ऋषभदेव से अनभिज्ञ नहीं थे। प्रो. नाकामुरा ने बताया है कि चीनी भाषा के षट्शास्त्र (अ.१) में ऋषभदेव को भगवत् कहा गया है। उसमें लिखा है कि भगवान् ऋषभदेव के शिष्यगण निर्ग्रन्थों के (जैनियों के) धर्मग्रन्थों का पाठ करते थे। चित्संग ने स्वर्ण सप्तति टीका में ऋषभ द्वारा मान्य तर्कवाद का भी उल्लेख किया है।

(अहिंसा वाणी तीर्थ ऋषभदेव विशेषांक, पृ. १६)

अध्यापक आर. जी. हर्षे ने अलासिया (साइप्रस) से प्राप्त ई. पू. १२वीं शती की **रेशोफ मूर्ति** पर गवेषणात्मक लेख लिखकर सिद्ध किया है कि **रेशोफ** भारतीय ऋषि का ही नाम है। फणिक लोगों की भाषा में **रेशोफ** का अर्थ होता है, सींगोंवाला देवता और संस्कृत में ऋषभ या वृषभ का अर्थ है, बैल। उक्त मूर्ति के सींग बैलों जैसे हैं। इसलिए रेशोफ और ऋषभ अभिन्न प्रकट होते हैं। ऋषभ का चिन्ह भी बैल है। फणिक लोग जिनेन्द्र भक्त थे। वे लोग (Bull God) बैलदेवता कहकर ऋषभदेव की पूजा करते थे।

कालिदास नाग जो एक प्रख्यात् दर्शन शास्त्री थे उन्होंने मध्य एशिया से प्राप्त एक नग्न मूर्ति का चित्र अपनी पुस्तक (‘डिस्कवरी आफ एशिया’ प्लेट नं. ५, आदि तीर्थकर भग. ऋषभ) में दिया है, जो लगभग दस हजार वर्ष पुराना है। उन्होंने उसे जैनमूर्ति के अनुरूप बताया है। यह मूर्ति नग्न है, कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं। उसकी जटायें कंधों पर ठीक वैसे ही लहराती हुई दर्शायी गई है, जैसे कि जिन मूर्तियों में होती है। यूनान

में भी अपोलो रेशोफ की मूर्ति नग्न बनती थी। अपोलो सूर्य देवता है। भगवान् ऋषभ केवलज्ञानी थे अतः ज्ञान के सूर्य कहे जाते थे।

बेबीलोनिया का **इसबेजूर** नगर ऋषभपुर का अपभ्रष्ट रूप प्रतीत होता है। वहां तेशव (ऋषभ) देव की मूर्ति विद्यमान है। तेशवदेव के रूप में भगवान् ऋषभ की मान्यता मध्य एशिया से लेकर सोवियत आरमेनिया तक फैली थी। तेशब शब्द, तित्थयर, उसभ अथवा घोर उसभ का अपभ्रष्ट रूप हो सकता है। प्राचीनकाल में कश्यपों, देवों, मानवों, मिश्रवासियों और मगों में एक ही प्रकार की चित्रमय भाषा लिपि प्रचलित थी। एक अलंकृत भाषा का प्रयोग होता था।

(इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली भाग ३.)

यहूदियों के धार्मिक ग्रन्थों में ऋषभदेव का वर्णन मिलता है।

“Some Old Testamen passages indicate . . . Among the pre-Israelitish inhabitants of the Nageb were the son of Anakor Anakite and that these Anakites were identical with or closely related to the Rephin or Rephaite (ऋषभ)”

(History of Israel)

प्रो.वी.जी. नायर जो शान्तिनिकेतन से जुड़े थे और सिनोइण्डियन कल्चर सोसाइटी के सह सचिव रहे हैं उन्होंने एशिया की संस्कृति के ऊपर करीब पच्चीस किताबें और दो हजार लेख लिखे हैं। उनके अनुसार—

After my continuous studies on the origin and development of world culture, I was convinced that Lord Rishabha was the first religious teacher, ruler, reformer as well as law maker in the history of Mankind . . . Rishabha is also extolled in the Vedas as the Almighty God. There are

devotional hymns in the Vedas as well as in some Puranas in adoration of Rishabha. In the Buddhist scriptures also could be found references about Rishabha as the early Buddha. The author of TIRUKKURAL, the Tamil Veda extols Rishabha as Adi Bhagawan, the first Lord and the first omniscient teacher of mankind.

(Adi Bhagawan Rishabh)

ऋषभदेव का वर्णन जैन साहित्यिक ग्रन्थों 'कल्पसूत्र', 'आवश्यक सूत्र', 'आचारांग निर्युक्ति', 'आवश्यक निर्युक्ति', 'आदिपुराण', 'हरिवंशपुराण', 'पउमचरित', (विमलसूरि कृत प्रथम शताब्दी सन्) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, शत्रुंजय महात्म्य, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, तिलोयपण्णति, वसुदेव हिंडी और उत्तर पुराण आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है। जैन और जैनेत्तर ग्रन्थों का अध्ययन करने के बाद यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि जैन ऐतिहास बहुत ही तर्कपूर्ण, विवेकसम्मत तथा सत्य की दृढ़ नींव पर आधारित है। ये काल्पनिक नहीं बल्कि ठोस प्रमाणिक तथ्यों को उजागर करता है।

इस अवसरिणी काल के तीसरे आरे के अन्तिम भाग में जब जनसंख्या की वृद्धि होने से कल्पवृक्षों पर आश्रित रहने वाले लोगों को जीवन निर्वाह में असुविधा होने लगी और कल्पवृक्षों को अपने अधिकार में रखने की प्रवृत्ति उत्पन्न होने के फलस्वरूप अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी जिसके कारण 'कुलकर' व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ। मानवों ने छोटे-छोटे कुल बनाये और एक प्रतिभाशाली व्यक्ति को अपना नेता बनाया जिसे 'कुलकर' कहा जाने लगा। जैन व वैदिक दोनों साहित्यों में हमें कुलकर का उल्लेख मिलता है तथा दोनों ही साहित्य में कहीं ७ तथा कहीं १४ कुलकरों तथा मनुओं का वर्णन है। अन्तिम कुलकर नाभि

और उनकी पत्नी मरुदेवी थे। जिनके यहाँ आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म हुआ। वैदिक धर्मग्रन्थ 'श्रीमद्भागवत' में भी प्रथम मनु स्वयंभुव के मन्वतर में ही उन्हीं के वंशज अग्नीध्र से नाभि और नाभि से ऋषभदेव के जन्म का उल्लेख मिलता है।

'आवश्यक निर्युक्ति' के अनुसार वज्र नाम का जीव स्वार्थसिद्ध विमान में अपने देवभव की आयु पूर्ण कर आषाढ कृष्ण चतुर्थी को च्युत होकर उत्तराषाढा नक्षत्र के योग में माता मरुदेवी की कुक्षि में गर्भ रूप में उत्पन्न हुआ। चैत्र कृष्णा अष्टमी (कहीं-कहीं नवमी) को उत्तराषाढा नक्षत्र में ऋषभदेव का जन्म हुआ। ऋषभदेव का जन्म अन्तिम कुलकर नाभि राजा और उनकी पत्नी मरुदेवी से अयोध्या में हुआ था।

चैत्र बहुलङ्गीए जातो उसभो आषाढ नक्खत्ते।

(आवश्यक निर्युक्ति० गा० १८४ व कल्पसूत्र, सू० १९३)

जिन सेन के 'महापुराण' में लिखा है कि—

चैत्रे मास्यसिते पक्षे, नवम्यामुदये रवेः।

(महापुराण, जिनसेन, सर्ग १३, श्लो. २-३)

ऋषभदेव मानवीय संस्कृति के आदि सूत्रधार थे। उन्होंने अपने चारों ओर के वन्य समाज को असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, शिक्षा और रक्षण की विधि सिखाकर ग्राम तथा नगर समाज के रूप में संगठित कर उन्हें कला कौशल का प्रशिक्षण देकर संस्कृति और सभ्यता का प्रारम्भ किया था। प्राकृतिक अवरोध के कारण कल्पवृक्षों से जब भोजनादि की व्यवस्था निःशेष प्रायः हो गई थी तब भगवान् ने प्रजा को कृषि की शिक्षा दी। कृषि का अर्थ है, 'कृषिः भूकर्षणे प्रोक्तः।' पृथ्वी विलेखन को कृषि कहते हैं। कृषि से अन्नादि पैदा होते हैं। इसलिये अन्न, चारा, वस्त्र, ईधन तथा लकड़ी द्वारा निर्मित जीवनोपयोगी नाव, जहाज, मकान, हाट, हल आदि सब सामग्रियां खेती से प्राप्त

करना सिखलाया। प्राण रक्षा के लिए उपयोगी साधन सामग्री का निर्माण करना भी सिखलाया। अतः वे खेती के प्रथम आविष्कर्ता थे। ऋषभदेव ने केवल हल और बैल के द्वारा खेती करना ही नहीं सिखाया अपितु उत्पन्न अन्न से भोजन तैयार करने तथा खाने की विधि भी बताई। उन्होंने पशुपालन भी सिखलाया। दुधारु पशुओं को पालकर उनके चारे से पालन पोषण कर दूध प्राप्त करना भी सिखलाया तथा दूध से दही आदि मिष्टान्न तैयार करना भी सिखलाया। भोजन बनाने के लिये पात्र बनाने भी सिखलाये। अतः कोई भी व्यक्ति वस्त्र, पात्र, भोजन, मकान आदि के अभाव से पीड़ित न रहा।

ऋषभदेव ने लिपि और गणित की शिक्षा अपनी ब्राह्मी, सुन्दरी दोनों पुत्रियों को दी। ब्राह्मी को भाषा और लिपि का मुख्यरूप से ज्ञान कराया। (अथ श्री ऋषभदेवेन ब्राह्मी दक्षिण हस्तेन अष्टादशलियों दर्शिताः।) उसी के नाम पर भारत की प्राचीन लिपि को ब्राह्मी लिपि कहते हैं। भाषाविज्ञान वेत्ताओं का कथन है कि ब्राह्मी लिपि पूर्ण और सर्वग्राह्य थी। आगे चलकर इस लिपि से अनेक लिपियों का विकास हुआ। आज की देवनागरी लिपि उसी का विकसित रूप है।

ऋषभदेव ने अपनी दूसरी पुत्री सुन्दरी को मुख्यरूप से अंकों का ज्ञान करवाया। उससे गणित विद्या का विकास समस्त जगत में हुआ। जगद्गुरु ऋषभदेव ने पुरुषों को ७२ कलाएं और स्त्रियों को ६४ कलाएं सिखलाई। उन्होंने एक सुनियोजित व्यवस्थारूप में प्रजाजनों को अनुशासित किया। उन्होंने कर्म के आधार पर समाज का वर्गीकरण किया। वे चतुर्वर्णी (क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, और ब्राह्मण) व्यवस्था के सूत्रधार बने। चाणक्य की अर्थनीति में जिस चतुर्वर्ण व्यवस्था पर अधिकाधिक बल दिया गया है, वह ऋषभदेव से प्रारंभ हो चुकी थी। नयी संस्कृति, नयी सभ्यता और नयी राजव्यवस्था के जनक के

रूप में उन्हें प्रजापति, मनु, कुलकर और ब्रह्मा कहा गया। शैव धर्म में शिव, वैष्णव धर्म में विष्णु के अवतार के रूप में ऋषभदेव की मान्यता रही है। आद्य प्रचारक ऋषभदेव ने जहाँ कर्मयुग की नींव डाली, वहीं धर्मयुग की भी आधारशिला रखी थी। वे ब्राह्मण धर्म और श्रमण धर्म के समन्वय बिन्दु थे।

तीर्थंकर आदिनाथ ऋषभदेव मूलतः वैदिक परम्परा के प्रतिष्ठित प्रागैतिहासिक शलाकापुरुष हैं। उनकी तीर्थयात्रा की पदचाप ब्राह्मण परम्परा से श्रमण-परम्परा तक समभाव से अनुगूँजित है। जैन परम्परा ऋषभदेव से ही अपने धर्म का उद्भव मानती है। वैदिक साहित्य के तहत ऋग्वेद में जिस ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है, वहीं जैन धर्म के ऋषभनाथ हैं।

(श्री रंजन सूरि देव)

हिन्दू साहित्य में ब्रह्मा को अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है हिरण्यगर्भ, प्रजापति, लोकेश, नाभिज, चतुरानन, स्रष्टा और स्वयंभू आदि जिनका साम्य ऋषभदेव के चरित्र से भी मिलता है।

हिरण्यगर्भ — जब भगवान ऋषभदेव माता मरुदेवी के गर्भ में आये उसके छः मास पहले से अयोध्या नगर में हिरण्य, सुवर्ण तथा रत्नों की वर्षा होने लगी। इसलिए आपका 'हिरण्यगर्भ' भी नाम पड़ा।

प्रजापति — कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने पर असि, मसि, कृषि, आदि छः कर्मों का उपदेश देकर उन्होंने प्रजा की रक्षा की थी। इसलिये आप 'प्रजापति' कहलाये।

लोकेश — ऋषभदेव समस्त लोक के स्वामी थे इस अवसर्पिणी काल के प्रथम राजा थे। इसीलिए 'लोकेश' कहलाते थे।

नाभिज — चौदहवें मनु नाभि राजा के पुत्र थे इसलिये 'नाभिज' नाभि से उत्पन्न / के द्वारा जन्म प्राप्त कहलाये।

चतुरानन — समवसरण में चारों ओर से आपका दर्शन होता था इसलिये आप चतुरानन कहे जाते थे।

स्रष्टा — भोग भूमि नष्ट होने के बाद देश, नगर, राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य, घर-परिवार, विवाह प्रथा आदि सभी परम्पराओं के आदि प्रवर्तक थे। इसलिये आप ‘स्रष्टा’ कहे जाते थे।

स्वयंभू — दर्शन-विशुद्धि आदि भावनाओं से अपनी आत्मा के गुणों का विकास कर स्वयं ही आदि तीर्थकर हुए थे इसलिये ‘स्वयंभू’ कहलाते हैं।

इस प्रकार जैन परम्परा के आदि तीर्थकर ऋषभदेव प्रथम योगी थे जिन्होंने ध्यान पद्धति का प्रारम्भ किया था। ‘श्रीमद् भागवत’ में उन्हें योगेश्वर कहा गया है। ‘महाभारत’ में हिरण्यगर्भ को सबसे प्राचीन योगवेत्ता माना गया है। जैन परम्परा के ऋषभदेव ही अन्य परम्पराओं में आदिनाथ, हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा एवं शिव के नाम से प्रचलित है। ‘ऋग्वेद’ के अनुसार हिरण्यगर्भ को भूत जगत का एकमात्र स्वामी माना गया है। सायण के अनुसार हिरण्यगर्भ देहधारी था। ऋषभदेव जब गर्भ में थे तब राज्य में धनधान्य की वृद्धि हुई इसीलिये उन्हें हिरण्यगर्भ भी कहा जाता है। ‘महापुराण’ में भी इस बात का उल्लेख मिलता है।

आगम और ऋग्वेद के व्युत्पत्ति जन्य अर्थ में अद्भुत साम्य देखने को मिलता है। जो इस प्रकार हैं। ‘ऋ’ का अर्थ है प्राप्त करना या सौंपना। ‘क्’ अक्षर का एक अर्थ शिव, विष्णु, ब्रह्मा (सत्यम शिवम सुन्दरम) के रूप में भी मिलता है और वेद का अर्थ है ज्ञान। अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, शिव (ऋषभदेव) से आया (प्राप्त) ज्ञान। आगम में — ‘आ’ का अर्थ है ‘आया हुआ’, ‘अधिग्रहण’। ‘ग’ से गणधर। ‘म’ का प्रयोग ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों के सम्मिलित रूप में होता है और ऋषभदेव के रूप में तीनों समाहित है। अतएव आगम का अर्थ हुआ ऋषभदेव से गणधरों को

आया हुआ रहस्यमय ज्ञान या गणधरों द्वारा ग्रहण किया गया रहस्यमय ज्ञान। ‘संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर’ (रामचन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित नागरी प्रचारणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित) के पृष्ठ ८१ में आगम का अर्थ वेद, शास्त्र, तन्त्र शास्त्र और नीति शास्त्र दिया हुआ है। इससे यह पता चलता है कि आगम साहित्य वैदिक साहित्य से भी विशाल था। “तन्त्र अभिनव विनिश्चय” (शैव आगमों का प्रमुख ग्रन्थ) में लिखा है कि तंत्र के आदि स्रष्टा शिव थे। जिन्होंने आगम के रूप में वह ज्ञान पार्वती को दिया और पार्वती ने लोक कल्याण के लिये वह ज्ञान गणधरों को निगम के रूप में दिया। यह धारणा इस तथ्य की ओर इंगित करती है कि आदि एक है लेकिन विभिन्न लोगों ने अलग अलग दृष्टिकोण से उसकी व्याख्या की है। “एकं सद्भिप्रा बहुधा बदन्त्यग्निम् यमः मातरिश्वानम् आहुः।” अतः मूल ज्ञान का स्रोत आगम थे और उसी का परिवर्तित रूप निगम बना। पार्वती शब्द का अर्थ पर्वत में रहने वाले लोगों से भी होता है। जिनको पारवतीय कहकर सम्बोधित किया गया है।

इस रहस्यमय आगम ज्ञान को सिर्फ भारत में ही नहीं यूरोप में भी कैसे नष्ट किया गया इसका एक उदाहरण यहां पर दिया जा रहा है। Godfrey Higgins ने अपने ग्रन्थ “The Celtic Druids” में इस विषय में लिखा है —

“After the introduction of Christianity the Ogam writings, not being understood by the priests, were believed to be magical and were destroyed wherever they were found. Patrick is said to have burnt 300 books in those letters.”
“The word Agams or Ogam is mysterious” according to Sri William Jones “These Ogam Character” were the first invented letters . . . the Druids of Ireland did not pretend to

be the inventors of the secret system of letters but said that they inherited them from the most remote antiquity.”

प्रख्यात घुमक्कड़, परित्राजक, प्राचीन तंत्रशास्त्र के ज्ञाता एवं शैवागम के विशेषज्ञ विद्वान श्री प्रमोदकुमार चटर्जी का कहना है—

तन्त्र धर्म भारत के बाहर से आया हुआ है। शिव तिब्बत के पार्वत्य अंचल में रहा करते थे। . . . जिन लोगों ने तिब्बत के भौगोलिक मानचित्र को देखा है, वे देखेंगे कि उस देश के दक्षिण पश्चिम अंश में कैलाश पर्वत श्रेणी विद्यमान है। लगभग चार हजार या उससे भी कई शताब्दियों पहले एक महापुरुष उस अंचल में विद्यमान थे। तिब्बत के कैलाश अंचल में जिस महामानव ने आदि धर्म का प्रवर्तन किया था, वे अशेष गुणसम्पन्न योगी थे— योगेश्वर के रूप में ही उनकी प्रसिद्धि थी। ये कभी योगभ्रष्ट नहीं हुए। उनसे ही समाज का सविशेष विकास हुआ है।

स्पष्टतः प्रमोद चटर्जी यहाँ ऋषभदेव, आदिनाथ या शिव की तरफ इशारा करते हैं।

ब्रह्मा द्वारा वेदों की उत्पत्ति की मान्यता श्रमण संस्कृति की इस मान्यता से और भी पुष्ट होती है कि मूल वेदों की रचना भरत चक्रवर्ती द्वारा अपने पिता ऋषभदेव के उपदेशों को सूत्रबद्ध करके की गयी थी। बाद में वेद जब विच्छिन्न होने लगे तब उनमें भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिये हिंसक बलि, यज्ञ और शक्तिशाली देवताओं को प्रसन्न करने की स्तुतियाँ परवर्ती भाष्यकारों ने जोड़ दी। निवृत्ति धर्म को गौणकर प्रवृत्ति धर्म का प्रभाव बढ़ने लगा था। तत्पश्चात् व्यास जी ने इन ऋचाओं को संकलित कर उनके चार नाम से चार वेद बना दिये। प्राचीन काल में वेद जैन संस्कृति में भी मान्य रहे हैं। इसका प्रमाण आचारांग सूत्र से भी मिलता है। जहाँ कई स्थानों पर वेदवी शब्द का प्रयोग हुआ है जो गहन अनुसंधान का विषय है।

“एवं से अप्पमाण विवेगं कीदृति वेदवी”

(आचारांग सूत्र श्रुत १ अ. ४ उ. ४)

“एत्थ विरमेज्ज वेदवी”

(आचारांग सूत्र श्रुत १ अ. ५ उ. ६)

भगवान महावीर द्वारा प्रथम समवसरण के समय गौतम आदि गणधरों के वैदिक श्रुतियों के विषय में संदेह का स्पष्टीकरण और उन श्रुतियों की सही व्याख्या करना इस मान्यता को और भी पुष्ट करता है कि प्राचीन काल में वेद जैनियों के मान्य ग्रन्थ थे। पारसी धर्म ग्रन्थ अवेस्ता में प्राचीन वेदों का वर्णन मिलता है। विद, विश्वरद, विराद और अंगिरस। ये वेद खरोष्टि लिपि में लिपिबद्ध थे।

गोपथ ब्राह्मण (पूर्व २-२०) में स्वयंभू कश्यप का वर्णन मिलता है जो ऋषभदेव हैं। भागवत में और विष्णु पुराण में ऋषभदेव को विष्णु का अवतार बताया गया है। विष्णु शब्द में विष का अर्थ- प्रवेश करना तथा अश् का अर्थ— व्याप्त करना धातु से किया गया है। विष्णु पुराण में भी विष धातु का अर्थ प्रवेश करना है, सम्पूर्ण विश्व उस परमात्मा में व्याप्त है। ऋग्वेद में विष्णु को सौर देवता कहा है और वे सूर्य के रूप हैं। आचार्य यास्क के अनुसार रश्मियों द्वारा समग्र संसार को व्याप्त करने के कारण ही सूर्य विष्णु नाम से अभिहित हुए हैं। “यश्च सूर्यः स वै विष्णुः स भास्करः”। (ब्रह्म पुराण १५८/२४) हमने प्रारम्भ में ही यह प्रमाणित किया है कि वेदों और पुराणों आदि ग्रन्थों में ऋषभदेव और सूर्य की समानता का उल्लेख मिलता है। जो विष्णु और सूर्य – ऋषभ और सूर्य दोनों की समानता की पुष्टि करता है। अर्हत् ऋषभदेव ने लोक और परलोक के आदर्श प्रस्तुत किये। गृहस्थधर्म और मुनिधर्म दोनों का स्वयं आचरण करते हुए राज्यावस्था में विश्व को सर्वकलाओं का प्रशिक्षण दिया तथा बाद में पुत्रों को राज्य भार सौंपकर अध्यात्मकला द्वारा स्व-पर कल्याण

के लिये प्रव्रज्या ग्रहण कर अर्हत् बने। शायद यही कारण है कि श्रीमद्भागवत में उन्हें विष्णु भगवान् कहा है—

महर्षिः तस्मिन्नैव विष्णुदत्तः भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितः नाभेः
प्रिवचिकीर्षया तदवरोधाय ने मरुदेव्याधमान् दर्शयितुकामो
वातरशनानां श्रमणः नामृषीणामूर्ध्वमथिनां शुक्लया तनुवावतार ।।

(५।३।२० भागवत)।

हे परीक्षित! उस यज्ञ में महर्षियों द्वारा इस प्रकार प्रसन्न किये जाने पर भगवान् महाराज विष्णु नाभि का प्रिय करने के लिये उनके अन्तःपुर में महारानी मरुदेवी के गर्भ से वातरशना (योगियों) श्रमणों और उर्ध्वगामी मुनियों का धर्म प्रकट करने के लिये शुद्ध सत्त्वमय शरीर से प्रकट हुए।

श्रीमद्भागवतकार ने ही लिखा है कि यद्यपि ऋषभदेव परमानन्दस्वरूप थे, स्वयं भगवान् थे फिर भी उन्होंने गृहस्थाश्रम में नियमित आचरण किया। उनका यह आचरण मोक्षसंहिता के विपरीतवत् लगता है, किन्तु वैसा था नहीं। यथा —

भगवान् ऋषभसंज्ञ आत्मतन्त्रः स्वयं नित्यनिवृत्तानर्थपरम्परः
केवलानन्दानुभवः ईश्वर एवं विपरीतवत् कर्मारण्यारभ्यमानः
कालेनानुरातं धर्ममाचरेणापंशिक्षयन्नतद्विदां सम उपशांतो मैत्रः
कारुणिको धर्मार्थं यशः प्रजानन्दामृतावरोधेन गृहेषु लोक नियमयत् ।

(भागवत् ५।४।१४)

भगवान् ऋषभदेव यद्यपि परम स्वतंत्र होने के कारण स्वयं सर्वदा ही सब प्रकार की अनर्थ परम्परा से रहित केवल आनन्दानुरूप स्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे तो भी विपरीतवत् प्रतीत होने वाले कर्म करते हुए उन्होंने काल के अनुसार धर्म का आचरण करके उसका सत्त्व न जानने वालों को उसी की शिक्षा दी। साथ ही सम (मैत्री) शांत (माध्यस्थ) सहृद (प्रमोद) और

कारुणिक (कृपापरत्व) रहकर धर्म, अर्थ, यश, सन्तानरूप भोग सुख तथा मोक्ष सुख का अनुभव करते हुए गृहस्थाश्रम में लोगों को नियमित किया।

‘ऋषभ का एक अर्थ धर्म भी है।’ ऋषभदेव साक्षात् धर्म ही थे। उन्होंने भागवत में कहा है—

इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं, सत्त्वं ही में हृदयं यत्र धर्मः ।

पृष्टे कृतो मे यदधर्म आराधतो ही मां ऋषभं प्राहुरार्याः ।।

(भागवत ५।५।२२)

मेरा यह शरीर दुर्विभाव है, मेरे हृदय में सत्त्व का निवास है वहीं धर्म की स्थिति है। मैंने धर्म स्वरूप होकर अधर्म को पीछे धकेल दिया है अतएव मुझे आर्य लोग ऋषभ कहते हैं।

एक अन्य स्थान पर परीक्षित ने कहा है—

धर्मबृवीषी धर्मज्ञ धर्मोसि वृषभ रूप धृक् ।

यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत् ।।

(भागवत १।११।२२)

‘हे धर्मतत्त्व को जानने वाले ऋषभदेव! आप धर्म का उपदेश कर रहे हैं। अवश्य ही आप वृषभरूप में स्वयं धर्म हैं। अधर्म करने वाले को जो नरकादि स्थान प्राप्त होते हैं, वे ही आपकी निन्दा करने वाले को मिलते हैं।’

भगवान् ने धर्म का उपदेश दिया क्योंकि वे स्वयं धर्मरूप थे। तीर्थ का प्रवर्तन किया क्योंकि वे स्वयं तीर्थकर थे, यह सब कुछ सत्य है किन्तु उन्होंने प्रजा को संसार में जीने का उपाय भी बताया।

(मध्य एशिया और पंजाब में जैन धर्म)।

अश्वघोष के बुद्धचरित में शिव का ‘वृषध्वज’ तथा ‘भव’ के रूप में उल्लेख हुआ है, भारतीय नाट्यशास्त्र में शिव को ‘परमेश्वर’

कहा गया है। उनकी 'त्रिनेत्र' 'वृषांक' तथा 'नटराज' उपाधियों की चर्चा है। वे नृत्यकला के महान् आचार्य हैं और उन्होंने ही नाट्यकला को ताण्डव दिया। वह इस समय तक महान् योगाचार्य के रूप में ख्यात हो चुके थे तथा इसमें कहा गया है कि उन्होंने ही भरतपुत्रों को सिद्धि सिखाई। अन्त में शिव के त्रिपुरध्वंस का भी उल्लेख किया गया है और बताया गया है कि ब्रह्मा के आदेश से भरत ने 'त्रिपुरदाह' नामक एक डिम (रूपक का एक प्रकार) भी रचा था और भगवान शिव के समक्ष उसका अभिनय हुआ था। जैन ग्रन्थों में वर्णित अप्सरा नीलांजना का ऋषभदेव की राज्यसभा में नृत्य का प्रसंग उपरोक्त वर्णन से समानता दर्शाता है।

पुराणों में शिव का पद बड़ा ही महत्वपूर्ण हो गया है। यहाँ वह दार्शनिकों के ब्रह्मा हैं, आत्मा हैं, असीम हैं और शाश्वत हैं। वह एक आदि पुरुष हैं, परम सत्य हैं तथा उपनिषदों एवं वेदान्त में उनकी ही महिमा का गान किया गया। बुद्धिमान और मोक्षाभिलाषी इन्हीं का ध्यान करते हैं। वह सर्व हैं, विश्वव्यापी हैं, चराचर के स्वामी हैं तथा समस्त प्राणियों में आत्मरूप से बसते हैं। वह एक स्वयंभू हैं तथा विश्व का सृजन, पालन एवं संहार करने के कारण तीन रूप धारण करते हैं। उन्हें महायोगी, तथा योगविद्या का प्रमुख माना जाता है। सौर तथा वायु पुराण में शिव की एक विशेष योगिक उपासना विधि का नाम 'माहेश्वर योग' है। इन्हें इस रूप में 'यंती', 'आत्म-संयमी ब्रह्मचारी' तथा 'ऊर्ध्वरेताः' भी कहा गया है। शिवपुराण में शिव का आदि तीर्थंकर वृषभदेव के रूप में अवतार लेने का उल्लेख है। प्रभासपुराण में भी ऐसा ही उल्लेख उपलब्ध होता है।

रामायण (बालकाण्ड ४६।६ उत्तराकाण्ड) में भी शिव की हर तथा वृषभध्वज इन दो नवीन उपाधियों का उल्लेख मिलता है। महाभारत में शिव को परब्रह्म, असीम, अचिन्त्य, विश्वरूपा, महाभूतों का एकमात्र उद्गम, नित्य और अव्यक्त आदि कहा गया है। एक स्थल पर उन्हें सांख्य के नाम से अभिहित किया गया है और अन्यत्र योगियों के परम पुरुष नाम से। वह स्वयं महायोगी हैं और आत्मा के योग तथा समस्त तपस्याओं के ज्ञाता हैं। एक स्थल पर लिखा है कि शिव को तप और भक्ति द्वारा ही पाया जा सकता है अनेक स्थलों पर विष्णु के लिये प्रयुक्त की गई योगेश्वर की उपाधि इस तथ्य का द्योतक है कि विष्णु की उपासना में भी योगाभ्यास का समावेश हो गया था, और कोई भी मत इसके वर्तमान महत्व की उपेक्षा नहीं कर सकता था।

(महाभारत: द्रोण पर्व)

विमलसूरि के 'पउमचरिउ' के मंगलाचरण के प्रसंग में एक जिनेन्द्र रुद्राष्टक का उल्लेख हुआ है जिसमें भगवान का रुद्र के रूप में स्तवन किया गया है और बताया गया है कि जिनेन्द्र रुद्र पाप रूपी अन्धकासुर के विनाशक हैं, काम, लोभ एवं मोहरूपी त्रिपुर के दाहक हैं, उनका शरीर तप रूपी भस्म से विभूषित है, संयमरूपी वृषभ पर वह आरूढ़ हैं, संसार रूपी करी (हाथी) को विदीर्ण करने वाले हैं, निर्मल बुद्धिरूपी चन्द्ररेखा से अलंकृत हैं, शुद्धभावरूपी कपाल से सम्पन्न हैं, व्रतरूपी स्थिर पर्वत (कैलाश) पर निवास करने वाले हैं, गुण-गुण रूपी मानव-मुण्डों के मालाधारी हैं, दस धर्मरूपी खट्वांग से युक्त हैं, तपःकीर्ति रूपी गौरी से मण्डित हैं, सात भय रूपी उद्दाम डमरू को बजानेवाले हैं, अर्थात् वह सर्वथा भीतिरहित हैं, मनोगुप्ति रूपी सर्प परिकर से वेष्टित हैं, निरन्तर सत्यवाणी रूपी विकट

जटा-कलाप से मण्डित हैं तथा हुंकार मात्र से भय का विनाश करने वाले हैं।

आचार्य वीरसेन स्वामी ने धबला टीका में अर्हन्तों का पौराणिक शिव के रूप में उल्लेख किया है और कहा है कि अर्हन्त परमेष्ठी वे हैं जिन्होंने मोह रूपी वृक्ष को जला दिया है, जो विशाल अज्ञानरूपी पारावार से उत्तीर्ण हो चुके हैं। जिन्होंने विघ्नों के समूह को नष्ट कर दिया है, जो सम्पूर्ण बाधाओं से निर्मुक्त हैं, जो अचल हैं, जिन्होंने कामदेव के प्रभाव को दलित कर दिया है, जिन्होंने त्रिपूर अर्थात् मोह, राग, द्वेष को अच्छी तरह से भस्म कर दिया है। जिन्होंने सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र रूपी त्रिशूल को धारण करके मोहरूपी अन्धकासुर के कबन्धवृन्द का हरण कर लिया है तथा जिन्होंने सम्पूर्ण आत्मरूप को प्राप्त कर लिया है।

महाकवि पुष्पदन्त ने भी अपने महापुराण में एक स्थल पर भगवान् वृषभदेव के लिये रुद्र की ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूपी त्रिमूर्ति से सम्बन्धित अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है। भगवान् का यह एक स्तवन है जिसे उनके केवलज्ञान होने के बाद इन्द्र ने प्रस्तुत किया है। जिसमें उन्होंने भगवान् के लिये कहा है कि वे शान्त हैं, शिव हैं, अहिंसक हैं, राजन्य वर्ग उनके चरणों की पूजा करता है। परोपकारी हैं, भय दूर करने वाले हैं, वामाविमुक्त हैं, मिथ्यादर्शन के विनाशक हैं, स्वयं बुद्ध रूप से सम्पन्न हैं, स्वयंभू है, सर्वज्ञ हैं, सुख तथा शान्तिकारी शंकर हैं, चन्द्रधर हैं, सूर्य हैं, रुद्र हैं, उग्र तपस्यों में अग्रगामी हैं, संसार के स्वामी हैं, तथा उसे उपशान्त करने वाले हैं, महादेव हैं. . . प्रलयकाल के लिये उग्रकाल हैं, गणेश (गणधरों के स्वामी) हैं, गणपतियों (वृषभसेन आदि गणधरों) के जनक हैं, ब्रह्म हैं, ब्रह्मचारी हैं,

वेदांगवादी हैं, कमलयोनि हैं, पृथ्वी का उद्धार करने वाले आदि वराह हैं, हिरण्य गर्भ हैं, परमानन्द चतुष्टय (अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य) से सुशोभित हैं। महाकवि पुष्पदन्त के उल्लिखित संस्तवन के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि भगवान् वृषभदेव के रूप में शिव के त्रिमूर्ति तथा बुद्ध रूप को भी समन्वित कर लिया गया। खजुराव के १००० ई० के शिलालेख नम्बर ५ में शिव का एकेश्वर रूप में तथा विष्णु बुद्ध और जिन का उन्हीं के अवतारों के रूप में उल्लेख किया जाना इसी तथ्य की पुष्टि करता है।

वैदिक परम्परा में शिव का वाहन वृषभ (बैल) बतलाया गया है। जैन मान्यतानुसार भगवान् वृषभदेव का चिन्ह बैल है। गर्भ में अवतरित होने के समय इनकी माता मरुदेवी ने स्वप्न में एक वरिष्ठ वृषभ को अपने मुख-कमल में प्रवेश करते हुए देखा था, अतः इनका नाम वृषभ रखा गया। सिन्धुघाटी में प्राप्त वृषभांकित मूर्तियुक्त मुद्राएँ तथा वैदिक युक्तियाँ भी वृषभांकित वृषभदेव के अस्तित्व की समर्थक हैं। इस प्रकार वृषभ का योग शिव तथा वृषभदेव के ऐक्य को सम्पुष्ट करता है।

जैनाचार्य हेमचन्द्र सूरि ने सोमेश्वर के शिव मन्दिर में जाकर महादेव स्त्रोत की रचना कर शिव की रागद्वेष रहित निर्विकार वीतराग सर्वज्ञदेव के रूप में स्तुति की थी। ऋषभ शिव कैसे बने इस विषय पर ईशान संहिता में लिखा है—

माघ बदि त्रयोदश्यादि देवो महानिशि।

शिवलिंग तयोभूतः कोटिसूर्य समप्रभः॥

माघ बदि त्रयोदशी की महानिशा को आदि देव ऋषभ करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान शिवलिंग के रूप में प्रकट हुए।

शिवपुराण में भी लिखा है—

इत्थं प्रभवः ऋषभोऽवतारः शंकरस्य मे।

सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितस्तु नः ॥

(शिवपुराण ४।४९)

मुझ शंकर का ऋषभ अवतार होगा। वह सज्जन लोगों की शरण और दीनबन्धु होगा तथा उसका अवतार नवां होगा।

जैन तीर्थंकरों में केवल ऋषभदेव की मूर्तियों केशिर पर कुटिल केशों का रूप दिखाया जाता है और वही उनका विशेष लक्षण भी माना जाता है। इसीलिये ऋषभदेव को केशरिया नाथ भी कहा जाता है। शिव के शिर पर भी जटाजूट कंधों पर लटकते केश ऋषभ और शिव की समानता को दर्शाते हैं। अतः निसन्देह रूप से यह स्वीकार किया जा सकता है कि ऋषभदेव और शिव नाम मात्र से ही भिन्न है वास्तव में भिन्न नहीं है। इसीलिये शिव पुराण में २८ योग अवतारों में ९वां अवतार ऋषभदेव को स्वीकार किया गया है।

उत्तरवैदिक मान्यता के अनुसार जब गंगा आकाश से अवतीर्ण हुई तो दीर्घकाल तक शिवजी के जटा-जूट में भ्रमण करती रही और उसके पश्चात् वह भूतल पर अवतरित हुई। यह एक रूपक है, जिसका वास्तविक रहस्य यह है कि जब शिव अर्थात् भगवान् ऋषभदेव को असर्वज्ञदशा में जिस स्वंसवित्तिरूपी ज्ञान-गंगा की प्राप्ति हुई उसकी धारा दीर्घकाल तक उनके मस्तिष्क में प्रवाहित होती रही और उनके सर्वज्ञ होने के पश्चात् यही धारा उनकी दिव्य वाणी के मार्ग से प्रकट होकर संसार के उद्धार के लिए बाहर आई तथा इस प्रकार समस्त आर्यावर्त को पवित्र एवं आप्लावित कर दिया।

जैन भौगोलिक मान्यता में गंगानदी हिमवान् पर्वत के पद्मनामक सरोवर से निकलती है। वहां से निकलकर वह कुछ दूर तक तो ऊपर ही पूर्वदिशा की ओर बहती है, फिर दक्षिण की ओर मुड़कर जहाँ भूतल पर अवतीर्ण होती है, वहाँ पर नीचे

गंगाकूट में एक विस्तृत चबूतरे पर आदि जिनेन्द्र वृषभनाथ की जटाजूट वाली अनेक वज्रमयी प्रतिमाएँ अवस्थित हैं, जिन पर हिमवान् पर्वत के ऊपर से गंगा की धारा गिरती है।

विक्रम की चतुर्थ शताब्दी के महान् जैन आचार्य यतिवृषभ ने तिल्लोयपण्णति में प्रस्तुत गंगावतरण का इस प्रकार वर्णन किया है—

आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जढ-मउढ-सेहरिल्लाओ।

पडिमोवरिम्मि गंगा अभिसित्तुमणा व सा पढदि ॥

गंगाकूट के ऊपर जटारूप मुकुट से शोभित आदि जिनेन्द्र (वृषभनाथ भगवान्) की प्रतिमाएँ हैं। प्रतीत होता है कि उन प्रतिमाओं का अभिषेक करने की अभिलाषा से ही गंगा उनके ऊपर गिरती है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने भी प्रस्तुत गंगावतरण की घटना का निम्न प्रकार चित्रण किया है—

सिरिगिहसीसट्टियंबुजकण्णियसिंहासणं जडामएलम्।

जिणमभिसिक्षुमणा वा ओदिण्णा मत्थए गंगा।

श्री देवी के गृह के शीर्ष पर स्थिति कमल की कर्णिका के ऊपर सिंहासन पर विराजमान जो जटारूप मुकुट वाली जिनमूर्ति है, उसका अभिषेक करने के लिए ही मानों गंगा उस मूर्ति के मस्तक पर हिमवान् पर्वत से अवतीर्ण हुई है।

वैदिक परम्परा में शिव को त्रिशूलधारी बतलाया गया है तथा त्रिशूलांकित शिवमूर्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। जैनपरम्परा में भी अर्हन्त की मूर्तियों को रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक् चारित्र) के प्रतीकात्मक त्रिशूलांकित त्रिशूल से सम्पन्न दिखलाया गया है। आचार्य वीरसेन ने एक गाथा में त्रिशूलांकित अर्हन्तों को नमस्कार किया है। सिन्धु उपत्यका से प्राप्त

मुद्राओं पर भी कुछ ऐसे योगियों की मूर्तियाँ अंकित है, जिनके शिर पर त्रिशूल हैं और कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानावस्थित हैं, कुछ मूर्तियाँ वृषभचिन्ह से अंकित हैं। मूर्तियों के ये दोनों रूप महान् योगी वृषभदेव से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त खण्डगिरि की जैन गुफाओं (ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी) में तथा मथुरा के कुषाणकालीन जैन आयागपट्ट आदि में भी त्रिशूलचिन्ह का उल्लेख मिलता है। डा. रोट ने इस त्रिशूल चिन्ह तथा मोहनजोदड़ो की मुद्राओं पर अंकित त्रिशूल में आत्यन्तिक सादृश्य दिखलाया है।

(ऋषभदेव तथा शिव-सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ।)

ऋषभदेव ने सबसे पहले क्षात्रधर्म की शिक्षा दी। महाभारत के शांतिपर्व में लिखा है कि, क्षात्रधर्म भगवान आदिनाथ से प्रवृत्त हुआ और शेष धर्म उसके पश्चात् प्रचलित हुए। यथा—

क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्तः।

पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्मः॥

(महाभारत शांतिपर्व १६।६४।२०)

ब्रह्माण्ड पुराण (२।१४) में प्रार्थिवश्रेष्ठ ऋषभदेव को सब क्षत्रियों का पूर्वज कहा है।

प्रजाओं का रक्षण क्षात्रधर्म है, अनिष्ट से रक्षा तथा जीवनीय उपायों से प्रतिपालन ये दो गुण प्रजापति ऋषभदेव में विद्यमान थे। उन्होंने स्वयं दोनों हाथों में शस्त्र धारण कर लोगों को शस्त्रविद्या सिखाई। शस्त्र शिक्षा पाने वालों को क्षत्रिय नाम भी प्रदान किया। क्षत्रिय का अन्तर्निहित भाव वही था। उन्होंने सिर्फ शास्त्र विद्या की शिक्षा ही नहीं दी अपितु सर्वप्रथम क्षत्रिय वर्ण की स्थापना भी की थी।

ऋषभदेव का यह वचन अधिक महत्वपूर्ण है कि केवल शत्रुओं और दुष्टों से युद्ध करना ही क्षात्रधर्म नहीं है अपितु विषय, वासना, तृष्णा

और मोह आदि जीतना भी क्षात्रधर्म है। उन्होंने दोनों काम किये। शायद इसी कारण आज क्षत्रियों को अध्यात्म विद्या का पुरुस्कर्ता माना जाता है। जितना और जैसा युद्ध बाह्य शत्रुओं को जीतने के लिये अनिवार्य है। उससे भी अधिक मोहादि अन्तर्शत्रुओं को जीतने के लिए अनिवार्य है। ऋषभदेव ने सारी पृथ्वी-समुद्रों पर राज्य किया, सारे विश्व को व्यवस्थित किया और फिर मोहादि शत्रुओं का विनाश करने में भी विलम्ब नहीं किया। आचार्य समन्तभद्र ने नीचे लिखे श्लोक में बड़ा ही भाव-भीना वर्णन किया है—

विहाय यः सागर-वारि-वाससं वधूमिवेमां वसुधूं वधूं सतीम्।

मुमुक्षुरिक्ष्वाकु कुलादिरात्मवान् प्रभु प्रव्राज सहिष्णुरच्युतः॥

(स्वयंभू स्तोत्र १।३)

समुद्र जल ही है किनारा जिसका (समुद्र पर्यन्त विस्तृत) ऐसी वसुधारूपी सती वधू को छोड़कर मोक्ष की इच्छा रखने वाले इक्ष्वाकुवंशीय आत्मवान् सहिष्णु और अच्युत प्रभु ने दीक्षा ले ली। उन्होंने अपने आन्तरिक शत्रुओं को अपनी समाधि तेज से भस्म कर दिया और केवलज्ञान प्राप्त कर अचिन्त्य और तीनों लोकों की पूजा के स्थान स्वरूप अर्हत् पद प्राप्त किया। तात्पर्य यह है कि क्षत्रिय का अर्थ केवल साँसारिक विजय ही नहीं है अपितु आध्यात्मिक विजय भी है।

भोगभूमि के बाद कर्मभूमि के प्रारंभ में धरा और धरावासियों की आवश्यकताओं के समाधान के लिए ऋषभदेव ने जिस घोर परिश्रम का परिचय दिया वही परिश्रम आत्मविद्या के पुरस्कर्ता होने पर भी किया। वे श्रमण आर्हत् धारा के आदि प्रवर्तक कहे जाते हैं। भागवतकार ने उन्हें नाना योगचर्याओं का आचरण करने वाले कैवल्यपति की संज्ञा तो दी ही है तथा साथ ही उन्हें वातरशना

(योगियों), श्रमणों, ऋषियों और ऊर्ध्वगामी (मोक्षगामी) मुनियों के धर्म का आदि प्रतिष्ठाता और श्रमण धर्म का प्रवर्तक माना है

(भागवत ५ / ४-६ / ६४-२०)

यहाँ श्रमण से अभिप्राय— “श्राम्यति तपक्लेशं सहते इति श्रमणः” अर्थात् जो तपश्चरण करें वे श्रमण है। श्री हरिभद्र सूरि ने दशवैकालिक की टीका में लिखा है कि— “श्राम्यन्तीति श्रमणः तपस्यन्तीत्यर्थः।” इसका अर्थ है जो श्रम करता है, कष्ट सहता है, तप करता है वह तपस्वी श्रमण है। भागवत ने वातरशना योगी, श्रमण, ऋषि को ऊर्ध्वगामी कहा है। ऊर्ध्वगमन जीव का स्वभाव है किन्तु कर्मों का भार उसे बहुत ऊँचाई तक नहीं जाने देता। जब जीव कर्मबन्धन से नितांत मुक्त हो जाता है तब अपने स्वभावानुसार लोक के अन्त तक ऊर्ध्वगमन करता है। जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र में कथन है कि— “तदनन्तरमूर्ध्व गच्छत्या लोकान्तात्” (१०।५) अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के क्षय होने के बाद तुरन्त ही मुक्तजीव लोक के अन्त तक ऊँचे जाता है। जैन शास्त्रों में जहां भी मोक्षतत्त्व का वर्णन आया है वहाँ पर मुक्तजीव के ऊर्ध्वगमन का विस्तार से वर्णन मिलता है। इसी संदर्भ में वैदिक ऋषियों ने वातरशना श्रमण मुनियों के ऊर्ध्वमथी, ऊर्ध्वरेता आदि शब्दों का प्रयोग किया है और ऋषभदेव को इसका प्रवर्तक कहा है। अतः ऋषभदेव जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर थे यह वैदिक साहित्य भी स्वीकार करता है। यतीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय के अनुसार जो नाथ सम्प्रदाय का आरम्भ हुआ वह जैनियों के तीर्थंकर और उनके शिष्य सम्प्रदाय से हुआ। मीननाथ के गुरु थे आदिनाथ अर्थात् ऋषभनाथ।

जैन मान्यतानुसार ज्योतिषी, गणित, व्याकरण आदि के प्रथम ज्ञाता तीर्थंकर ऋषभदेव है। इस विषय में वैद्य प्रकाश चन्द्र पाड्या ने अपने लेख ‘जैन ज्योतिष की प्राचीनत्वता’ में लिखा है कि ऋग्वेद में ऋषभ

का उल्लेख अनेक जगहों में आया है और उनको पूर्णतः ज्योतिषी बतलाया है।

प्र होत्रे पूर्व्य वचोऽग्नये भरता वृहत्

विपां ज्योतीषि विभ्रते न वेधसे ॥५॥७

(ऋग्वेद मं ३ अ० १ सूत्र १०)

ऋग्वेद के उक्त मंडल के आगे पीछे के अन्य सूत्रों और प्रसंग को देखते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऋग्वेद की यह ऋचा ऋषभ या वृषभ के लिये रची गयी है। उन्होंने ७२ विद्याएँ सिखाई उसमें ज्योतिषी विद्या भी एक विद्या थी। इसीलिये वैदिक ऋषि वृषभ की वंदना करते हुए ऋग्वेद में लिखते हैं—

आ नो गोत्रा दर्द्धहि गोपते गाः, समस्मभ्यं सनयो यंतु वाजा।

दिवक्षा असि वृषभ सत्य शुष्णोऽस्मभ्यं सु मघवन् बोधि गोदा : ॥

(ऋग्वेद, मंडल ३ अ० २ सू० ३०)

हे पृथ्वी के पालक देव। हमें नय सहित वाणियों को प्रदान कर आदरयुक्त बना। जिससे हम अपनी वृत्तियों और इन्द्रियों को संयत रख सकें। हे वृषभ तू सूर्य के समान सब दिशाओं में प्रकाशमान है और तू सत्य के कारण बलवान है। हे ऐश्वर्यमय माघवन! हमें सुबोधि प्रदान कर।

बौद्धों के धर्मकीर्ति द्वारा रचित प्रख्यात ग्रन्थ ‘न्याय बिन्दु’ में जैन तीर्थंकर भगवान् ऋषभ और महावीर आदि को ज्योतिष-ज्ञान में पारगामी होने के कारण सर्वज्ञ लिखा है— “यः सर्वज्ञ आप्तो वास ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान्। तद्यथा ऋषभ वर्धमानादिरिति ॥”

इस प्रकार जैनेतर साहित्य के अनुसार आदि ज्योतिषी भगवान् वृषभ या ऋषभ सिद्ध हो जाते हैं। जैन-पुराणों और कथाओं के आधार पर तो वे पूर्णतः ज्योतिषज्ञ हैं। जिनसेनाचार्य के ‘आदि पुराण’ के अनुसार

जो हालांकि वेदों से बाद की रचना है, वृषभ या ऋषभ के पुत्र भरत को एक बार रात को सोलह स्वप्न आये थे और उन स्वप्नों का जब अर्थ भरत ठीक ठीक लगाने में असमर्थ रहे, यद्यपि वे स्वयं ज्योतिर्विद थे फिर भी वे अपने बेचैनी को शांत करने के लिए पिता के पास कैलाश पर्वत पर पहुँचे और उनसे उन स्वप्नों का अर्थ समझाने की प्रार्थना की। भगवान् ऋषभदेव ने उन स्वप्नों का जो स्पष्टीकरण किया और भविष्यवाणी की वह वास्तव में स्तब्ध कर देने वाली है और यह सोचने और विचारने को बाध्य कर देने वाली है कि हजारों वर्षों पहले ही स्वप्नों के आधार पर भविष्य-वाणी भारत में होने लग गई थी। उनका वह स्वप्न-भविष्य कितना सत्य था आश्चर्य होता है।

(जैन ज्योतिष के प्राचीनतमत्व पर संक्षिप्त विवेचन)

जैन वाङ्मय में आयुर्वेद का महत्वपूर्ण स्थान है। बारह अंगों में अन्तिम अंग दृष्टिवाद में प्राणवाय एक पूर्व माना गया है जो आज अनुपलब्ध है। स्थानांगसूत्र, समवायांगसूत्र, नन्दीसूत्र आदि में इसका उल्लेख मिलता है। इस प्राणवाय नामक पूर्व में अष्टांगायुर्वेद का वर्णन है। जैन मत से आयुर्वेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पं० व्ही. पी. शास्त्री ने उग्ररादित्याचार्य कृत “कल्याणकारक” के सम्पादकीय में लिखा है कि इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में महर्षि ने प्राणवाय शास्त्र की उत्पत्ति के विषय में प्रमाणिक इतिहास लिखा है। ग्रन्थ के आदि में श्री आदिनाथ स्वामी को नमस्कार किया गया है। तत्पश्चात् प्राणवाय का अवतरण कैसे हुआ और उसकी स्पष्टतः जनसमाज तक परम्परा कैसे प्रचलित हुई इसका स्पष्ट रूप से वर्णन ग्रन्थ के प्रस्ताव अंश में किया गया है जो इस प्रकार है— श्री ऋषभदेव के समवसरण में भरत चक्रवर्ती आदि भव्यों ने पहुँचकर श्री भगवन्त की सविनय वन्दना की और भगवान से निम्नलिखित प्रकार से पूछने लगे—

ओ स्वामिन! पहले भोग भूमि के समय मनुष्य कल्पवृक्षों से उत्पन्न अनेक प्रकार के भोगोपभोग सामग्रियों से सुख भोगते थे। यहाँ भी खूब सुख भोगकर तदनन्तर स्वर्ग पहुँचकर वहाँ भी सुख भोगते थे। वहाँ से फिर मनुष्य भव में आकर अपने-अपने पुण्यकर्मों के अनुसार अपने-अपने इष्ट स्थानों को प्राप्त करते थे। भगवन! अब भारतवर्ष को कर्मभूमि का रूप मिला है। जो चरम शरीरी हैं व जन्म लेने वाले हैं उनको तो अब भी अपमरण नहीं है। इनको दीर्घ आयुष्य प्राप्त है। परन्तु ऐसे भी बहुत से मनुष्य पैदा होते हैं जिनकी आयु नहीं रहती और उनको वात, पित्त, कफादि दोनों का उद्वेक होता रहता है। उनके द्वारा कभी शीत और कभी उष्ण व कालक्रम से मिथ्या आहार सेवन करने में आता है। जिससे अनेक प्रकार के रोगों से पीड़ित होते हैं। इसलिये उनके स्वास्थ्य रक्षा के लिये योग्य उपाय बतायें। इस प्रकार भरत के प्रार्थना करने पर आदिनाथ भगवान ने दिव्य-ध्वनि के द्वारा लक्षण, शरीर, शरीर के भेदों, दोषोत्पत्ति, चिकित्सा, काल भेद आदि सभी बातों का विस्तार से वर्णन किया।

इस प्रकार दिव्यवाणी के रूप में प्रकट समस्त परमार्थ को साक्षात् गणधरों ने प्राप्त किया। इसके बाद गणधरों द्वारा निरूपित शास्त्र को निर्मल बुद्धि वाले मुनियों ने प्राप्त किया। इस प्रकार श्री ऋषभदेव के बाद यह शास्त्र तीर्थंकर महावीर तक चलता रहा।

दिव्यध्वनि प्रकटितं परमार्थजातं

साक्षात्तथा गणधरोऽधिजगे समस्तम्।

पश्चात् गणाधिपते निरूपित वाक्यप्रपञ्चमष्टाधी

निर्मलधियों मुनयोऽधिजग्मुः।।

एवंजिनान्तर निबन्धनसिद्धमार्गादायात्

मापतमनाकुलमर्थगाढम्।

स्वायंभुवं सकलमेव सनातनं

तत् साक्षाच्छ्रुतश्रुतदलैः श्रुत केवलीभ्यः ।।

(जैन आयुर्वेद - एक परिचय - अर्हत वचन, वर्ष - १२, अंक -३)

स्पष्ट है कि तीर्थंकरों ने प्राणवाय परम्परा का ज्ञान प्रतिपादित किया। फिर उनसे गणधरों, प्रतिगणधरों, श्रुतकेवलियों, आचार्यों, मुनियों ने सुनकर ग्रहण किया।

ब्रात्य 'प्रजापति' 'परमश्रेष्ठी', 'पिता' और 'पितामह' है। विश्व ब्रात्य का अनुसरण करता है। श्रद्धा से जनता का हृदय अभिभूत हो जाता है। ब्रात्य के अनुसार श्रद्धा, यज्ञ, लोक और गौरव अनुगमन करते हैं। ब्रात्य राजा हुआ। उससे राज्यधर्म का श्रीगणेश हुआ। प्रजा, बन्धुभाव, अभ्युदय और प्रजातन्त्र सभी का उसी से उदय हुआ। ब्रात्य ने सभा, समिति, सेना आदि का निर्माण किया।

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च वर्ष भृत्वानुव्यवर्तयन्तः। ऐन मापो गच्छत्यैनं श्रद्धा गच्छत्यैनं वर्ष गच्छति य एवं वेद। सोऽरज्यत् ततो राजन्योऽजायत, स विशः सबन्धूनन्नामन्नाद्यम भ्युदतिष्ठत् ।

(ब्रात्य काण्ड, अथर्ववेद)

इन शब्दों द्वारा भगवान् ऋषभदेव का प्रारम्भिक परिचय दिया गया है। कृषि, मसि, असि, कर्मयोग का व्याख्यान ब्रात्य ने दिया। अयोध्या पूर्व की राजधानी है और ऋषभदेव की जन्मभूमि। फिर ऋषभदेव के सन्यास, तप, विज्ञान और उपदेश सभी का यथाक्रम वर्णन है। ब्रात्य ने तप से आत्म-साक्षात्कार किया। सुवर्णमय तेजस्वी आत्मा का लाभ प्राप्त कर ब्रात्य महादेव बन गये। (य महादेवोऽभूत्)। ब्रात्य पूर्व की ओर गये, पश्चिम की

ओर गये, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओं की ओर उन्मुख हुए। चारों ओर उनके ज्ञान, विज्ञान का आलोक फैला। विश्व श्रद्धा के साथ उनके सामने नत मस्तक हो गया।

वास्तव में ब्रतों के उद्गाता भगवान् ऋषभदेव ही थे। इस तथ्य को वेद ने ही नहीं, मनु ने भी स्वीकार किया है। यद्यपि मनुस्मृति में उन्हें वैवस्वत, सत्यप्रियव्रत, अग्निप्रभ नाभि और ईक्ष्वाकु (ऋषभदेव) को छट्ठा मनु स्वीकार किया है और वेदकालीन दूसरी सूची में उन्हें वैवस्वत-वेन-घृष्णु बताया गया है। जैन आगमों में १४ मनुओं के स्थान पर सात कुलकरों का वर्णन प्राप्त होता है और उसमें सातवें कुलकर का नाम नाभि और उनके पुत्र ऋषभदेव को बताया गया है। इस प्रकार वेदों के आधार पर यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि ब्रात्य सम्प्रदाय के मूल संस्थापक और भारतीय संस्कृति के प्रतिष्ठापक भगवान् ऋषभदेव थे। कहने का सारांश इतना ही है कि ऋषभदेव ने ब्रात्य धर्म, त्याग धर्म और परमहंस धर्म का प्रतिपादन किया, जिसका समानार्थी अविकल और अक्षुण्ण रूप जैन धर्म है। जैनधर्म और ब्रात्यधर्म दोनों पर्यायवाची है।

(इतिहास के अनावृत पृष्ठ - आचार्य सुशील मुनिजी)

विमलसूरि ने अपने पउमचरिउ में लिखा है कि मूलतः चार वंश प्रसिद्ध थे। जिनकी उत्पत्ति ऋषभदेव से हुई। ऋषभदेव ने बाल्यावस्था में इक्षु दंड कुतूहल से हाथ में लिया जिससे उनका इक्ष्वाकु वंश कहलाया। उनके पुत्र भरत से आदित्यशा, सिंहयशा, बलभद्र, वसुबल, महाबल आदि अनेक राजा इक्ष्वाकु वंश में हुए। आदित्य दशा के नाम से आदित्य अर्थात् सूर्यवंशी कहलाये। ऋषभदेव के दूसरे पुत्र बाहुबली थे। जिनके पुत्र सोमप्रभ के नाम से सोमवंश या चंद्र वंश की उत्पत्ति हुई।

ऋषभदेव के पौत्र नमी और विनमी के द्वारा विद्याधर वंश बना। ये विद्याओं से सम्पन्न थे इसलिये इन्हें विद्याधर कहा गया। विद्याधर वंशों के राजा से बचने के लिये राजा भीम ने एक महान द्वीप में लंका नगरी की स्थापना की और इस द्वीप को राक्षस द्वीप कहा गया और उसके राजा को महाराक्षस। इस वंश में मेघ वाहन हुआ जिसके पुत्र का नाम राक्षस था जो इतना पराक्रमी था कि उसके पूरे वंश को ही राक्षस नाम प्राप्त हुआ। अहमिन्द्र नामक विद्याधर राजा का श्रीकण्ठ नामक पुत्र को लंकापति कीर्तिधवल ने लवण सागर के द्वीप में बसाया। जहाँ वानरों की बहुतायत थी। अतः इस द्वीप में रहने वालों को वानर कहा जाने लगा और उनका वंश वानर वंश कहलाया। पउमचरितं में लिखा है कि जिस प्रकार खड्ग से खड्गधारी, घोड़े से घुड़सवार, हाथी से हस्तिपाल, ईक्षु से ईक्ष्वाकु, विद्या से विद्याधर वंश होता है उसी तरह वानरों के चिन्ह से वानरों का वंश अभिव्यक्त होता है।

चूँकि वानर के चिन्ह से लोगों ने छत्र आदि अंकित किये थे इसलिए वे विद्याधर वानर कहलाए। इस प्रकार ऋषभदेव से ईक्ष्वाकु वंश, सूर्य वंश, चन्द्रवंश और विद्याधर वंश जिसके अन्तर्गत राक्षस और वानर वंश की उत्पत्ति हुई।

ऋषभ का अर्थ 'श्रेष्ठ' होता है। 'ऋषि गती' धातु से ऋषभ का अर्थ गतिशील भी है। ऋषभदेव वस्तुतः प्रत्येक कुशल कर्म के विकास पथ पर गतिशील रहे, अग्रणी रहे, श्रेष्ठ रहे। ऋषभ शब्द गंभीर, स्पष्ट एवं मधुर नाद का वाचक भी है जो सप्तस्वरों में से एक है। 'ऋषभ' का एक महत्वपूर्ण अर्थ ज्ञाता दृष्टा भी है। 'ऋ' का अर्थ आया हुआ, 'ष' का अर्थ श्रेष्ठ तथा 'भ' का अर्थ है ग्रह या नक्षत्र। अतः ऋषभ का अर्थ हुआ 'श्रेष्ठ नक्षत्रों में आया हुआ'। जैन पुराण के अनुसार ऋषभदेव के दार्ये जंघा में बैल का चिन्ह होने से उनका 'वृषभ' नाम भी व्यवहृत हुआ।

उत्तराध्ययन २५ श्लोक ६ में काश्यप को धर्म का आदि प्रवर्तक बताया गया है। भगवान ऋषभ आदि काश्यप है उन्हें धर्म की अनेक धाराओं के आदि स्रोत के रूप में खोजा जा सकता है। यह विषय अभी तक अज्ञात रहा है। इस विषय में अनुसंधान आवश्यक है।

(आचार्य महाप्रज्ञ जी)

भगवान ऋषभदेव ने चैत्यकृष्णा अष्टमी के दिन चंद्र के उत्तराषाढा नक्षत्र के साथ योग होने पर अपरान्ह काल में दीक्षा ग्रहण की थी। हेमचन्द्राचार्य ने इस विषय में लिखा है —

तदा चं चैत्रबहुलाष्टम्यां चन्द्रमसिश्चिते।

नक्षत्रमुत्तराषाढा महो भागेऽथ पश्चिमे ॥ ६५

ऋषभदेव की तक्षशिला यात्रा का वर्णन जैन साहित्य में मिलता है जिनदत्त सूरि रचित पंचानन्द पूजा, आवश्यक नियुक्ति आदि ग्रन्थों में इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। तक्षशिला में ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली का राज्य था। वहाँ पर ऋषभदेव गये थे। इसका वर्णन पी. सी. दास गुप्ता ने अपने लेख 'On Rishabha's visit to Taxila', में किया है। उनके अनुसार—

The legend of Risabhanatha's journey to Taksasila to meet his son Bahubali is indeed incomparable in its glory and significance. In his 'Studies in Jaina Art' (Banaras, 1955) Umakant P. Shah has summed up the story as follows :

"It is said that when Risabha went to Taxila, he reached after dusk; Bahubali (ruling at Taksasila) thought of going to pay his homage next morning and pay due respects along with his big retinue. But the Lord went away and

from here, travelled through Bahali-adambailla, Yonaka and preached to the people of Bahali, and to Yonakas and Pahlagas. Then he went to Astapada and after several years came to Purimatala near Vinita, where he obtained Kevalajnana.” According to U.P. Shah the relevant verses show that Taksasila was probably included in the province of Bahali (Balkh-Bactria) in the age of Avasyaka Nirayukti. As regards Risabha’s visit, it is told that next morning when Bahubali came to know of the Master’s departure he “felt disappointed and satisfied himself only by worshipping the spot where the Lord stood and installing an emblem the dharmachakra-over it.

जैन धर्म एवं साहित्य में धर्मचक्र का विशेष महत्व है। तीर्थकरों की स्तुति में शकेन्द्र ने जो विशेषण और गुण सूचक वाक्य प्रयुक्त किये हैं उनमें ‘धम्मवर चाउरंत चक्कवट्टीणं’ अर्थात् महावीरादि तीर्थकर श्रेष्ठ धर्म को चारों ओर फैलाने में धर्मचक्र के प्रवर्तक धर्म-चक्रवर्ती होते हैं। उनमें पहले अतिशय में धर्मचक्र का नाम आता है, अर्थात् तीर्थकर चलते हैं तो उनके आगे आकाश में देवता धर्मचक्र चलाते रहते हैं। अतः धर्मचक्र तीर्थकरों का महान अतिशय है। अभिधान-चिंतामणि शब्दकोष के प्रथम खण्ड के ६१ वे श्लोक में धर्मचक्र प्रवर्तन किये जाने का उल्लेख किया गया है। प्राचीन समवायांग सूत्र में दस अतिशयों का वर्णन है, उसमें आकाशगत धर्मचक्र भी एक है। भगवान विहार करते हैं तब आकाश में देदीप्यमान धर्मचक्र चलता है। प्राचीन स्तोत्रों में इसका बड़ा महत्व बतलाया है। उसका ध्यान करने वाले साधक सर्वत्र अपराजित होते हैं।

जस्सवर धम्मचक्कं दिणयरंभिव न भासुरच्छायं

नेएण पज्जलंतं गच्छइ पुरओ जिणिदस्स ॥ १९

ॐ नमो भगवओ महइ महावीर वर्द्धमान सामिस्स जस्सवर धम्मचक्कं जलंतं गच्छइ आयासं पायालं, लोयाणं भूयाणं जूए वा रणे का रायंगणे वावारणे थंभणे मोहेण थंरणे स्तवसताणं अपराजिओ भवामि स्वाहा ।

धर्मचक्र का प्रवर्तन कब से चालू हुआ, इस सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में महत्वपूर्ण उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार भगवान ऋषभदेव छद्मस्थ काल में अपने पुत्र महाराजा बाहुबली के प्रदेश में तक्षशिला वन में आये, उसकी सूचना वनरक्षक ने बाहुबली को दी तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ और वे भगवान को वंदन करने के लिये जोरों से तैयारी करने लगे। इस तैयारी में संध्या हो जाने से दूसरे दिन प्रातःकाल वे अपने नगर से निकलकर जहाँ रात्रि में भगवान ऋषभदेव ध्यानस्थ ठहरे थे वहाँ पहुँचे। पर लाव लश्कर के साथ पहुँचने में देरी हो गयी और भगवान ऋषभदेव तो अप्रतिबद्ध विहारी थे अतः प्रातः होते ही अन्यत्र विहार कर गए, फलतः बाहुबली उनके दर्शन नहीं कर सके। मन में बड़ा दुःख हुआ कि मुझे भगवान के आगमन की सूचना मिलते ही आकर दर्शन कर लेना चाहिए था। अंत में जहाँ भगवान खड़े हुए थे वहाँ की जमीन पर भगवान के पद चिन्ह बने हुए थे, उन्हीं का दर्शन वन्दन करके संतोष करना पड़ा। पद चिन्हों की रक्षा करने के लिए धर्म चक्र बनवाया गया, सुवर्ण और रत्नमयी? हजार आरों वाला धर्मचक्र वहाँ स्थापित किया गया। बाहुबली ने धर्मचक्र और चरण चिन्हों की पूजा की। इस तरह चरण चिन्हों की पूजा

की परम्परा शुरू हुई और पहला धर्मचक्र ऋषभदेव के छद्मस्थ काल में बनवाकर प्रतिष्ठित किया गया ।

अष्टोत्तरी तीर्थमाला (अचलगच्छीय महेन्द्रसूरी रचित) प्राकृत भाषा की एक महत्वपूर्ण रचना है । १११ गाथाओं की इस रचना में जैन तीर्थों का वर्णन है । उनमें से ५१वीं गाथा में अष्टापद उज्जयन्त, गजाग्रपद के बाद धर्मचक्र तीर्थ का उल्लेख है । गाथा ५६ से ५८वें तक में धर्मचक्र तीर्थ की उत्पत्ति का विवरण इस प्रकार दिया हुआ है ।

तवाल सिलाए उसभो, वियाली आगम्म पडिम्म नुज्जणे ।

जा बाहुबली पमाए, एईता विहरिनु भयवं ॥ ५६

तोतेहियं सोकारइ जिण पय गणंमि रयणमय पीढ ।

तदुवरि जोयण माणं रयण विणिम्मिय दंडे ॥ ५७

तस्सोवरि रयणमय, जोयण परिमण्डल पवर चक्कं ।

तं धम्मचक्कतित्थ, भवजल तिहि पवर बोहियं ॥ ५८

अचलगच्छ पट्टावली के अनुसार इस प्राकृत तीर्थमाला के रचयिता महेन्द्र सूरि का जन्म संवत् १२२८ में दीक्षा १२३७ में आचार्य पद प्राप्ति १३०९ में हुई थी । वे आचार्य हेमचन्द्र के थोड़े समय बाद ही हुए । आचार्य हेमचन्द्र और महेन्द्रसूरि के लेखन का आधार आवश्यक चूर्णि था जिसमें धर्मचक्र तीर्थ की उत्पत्ति का उपर्युक्त वर्णन है । इसके अतिरिक्त प्राचीन जैन पुरातत्व से भी धर्मचक्र की मान्यता का समर्थन होता है । प्राचीनतम मथुरा के आयागपट्ट आदि में धर्मचक्र उत्कीर्णित है मध्यकाल में भी इसका अच्छा प्रचार रहा । अतः अनेक पाषाण एवं धातु की जैन मूर्तियों के आसन के बीच में धर्मचक्र खुदा मिलता है । अभिधान राजेन्द्र कोष के पृष्ठ २७१५ में धर्मचक्र संबंधी ग्रंथों के पाठ दिये हैं ।

उसके अनुसार प्राचीनतम आचारांग की चूर्णि में 'तक्षशिलायां धर्मचक्र' आदि पाठ हैं जिसमें धर्मचक्र की स्थापना का तीर्थ तक्षशिला था, सिद्ध होता है । तीर्थकल्प में भी "तक्षशिलायां बाहुबलि विनिर्मितम् धर्मचक्र" पाठ है । आवश्यक चूर्णि में तीर्थकर के लिये धम्मचक्कपट्टी लिखा है । अतः परम्परा निःसंदेह काफी प्राचीन सिद्ध होती है । जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष के भाग २ पृष्ठ ४७५ में दो श्लोक उद्धृत मिले उसमें वर्णित हैं— हजार-हजार आरों वाले धर्मचक्र सुशोभित होते रहे थे । यक्षों के ऊँचे-ऊँचे मस्तक पर रखे हुए धर्मचक्र अलंकृत हो रहे थे ।

(अगरचन्द नाहटा-धर्मचक्र तीर्थ उत्पत्ति और महिमा-कुशल निर्देश)

ऋषभदेव का प्रथम पारणा अक्षय तृतीया के दिन हुआ था । इसका स्पष्ट लेख आचार्य हेमचन्द्र सूरि द्वारा रचित 'त्रिषष्टिशलाकापुरुष' में मिलता है ।

आर्यानार्येषु मौनेन, विहरन् भगवानपि ।

संवत्सरं निराहारश्चिन्तयामासिवानिदम् ॥ २३८

प्रदीपा इव तैलेन, पादपा इव वारिणा ।

आहारेणैव वर्तन्ते, शरीराणि शरीरिणाम् ॥ २३९

स्वामी मनसि कृत्यैवं, भिक्षार्थं चलितस्ततः ।

पुरं गजपुरं प्राप, पुरमण्डलमण्डनम् ॥ २४३

दृष्ट्वा स्वामिनमायान्तं, युवराजोऽपि तत्क्षणम् ।

अघावत् पादचारेण, पत्नीनप्यतिलंघयन् ॥ २७७

गृहांगणजुषो भर्तुर्लुठित्वा पादपंकजे ।

श्रेयांसोऽमार्जयत् केशैर्भ्रमरभ्रमकारिभिः ॥ २८०

ईदृशं क्व मया दृष्टं, लिंगमित्यभिचिन्तयन् ।

विवेकशाखिनो बीजं, जातिस्मरणमाप सः ॥ २८३

ततोविज्ञातनिर्दोषभिक्षादानविधिः स तु ।
 गृह्यतां कल्पनीयोऽयं, रस इत्यवदत् विभुम् ॥ २९१
 प्रभुरप्यंजलीकृत्य, पाणिपात्रमधारयत् ।
 उत्क्षिप्योत्क्षिप्य सोऽपीक्षुरसकुम्भानलोठयत् ॥
 राधशुक्ल तृतीयायां, दानमासीत्तदक्षयम् ।
 पर्वाक्षयतृतीयेति, ततोऽद्यापि प्रवर्तते ॥ ३०१

ऊपर लिखित श्लोकों में आचार्य हेमचन्द्र ने स्पष्टतः लिखा है कि संवत्सर पर्यन्त भगवान् ऋषभदेव मौन धारण किये हुए निराहार ही विभिन्न आर्य तथा अनार्य क्षेत्रों में विचरण करते रहे हैं। तदनन्तर उन्होंने विचार किया कि जिस प्रकार दीपकों का अस्तित्व तेल पर और वृक्षों का अस्तित्व पानी पर निर्भर करता है, उसी प्रकार देहधारियों के शरीर भी आहार पर ही निर्भर करते हैं। यह विचार कर वे पुनः भिक्षार्थ प्रस्थित हुए और विभिन्न स्थलों में विचरण करते हुए अन्ततोगत्वा हस्तिनापुर पधारे। हस्तिनापुर में भी वे भिक्षार्थ घर-घर भ्रमण करने लगे। अपने नगर में प्रभु का आगमन सुनते ही पुरवासी अपने सभी कार्यों को छोड़ प्रभु दर्शन के लिये उमड़ पड़े। हर्षविभोर हस्तिनापुर निवासी प्रभु चरणों पर लोटपोट हो उन्हें अपने-अपने घर को पवित्र करने के लिये प्रार्थना करने लगे। भगवान् ऋषभदेव भिक्षार्थ जिस-जिस घर में प्रवेश करते, वहीं कोई गृहस्वामी उन्हें स्नान-मज्जन-विलेपन कर सिंहासन पर विराजमान होने की प्रार्थना करता, कोई उनके समक्ष रत्नाभरणालंकार प्रस्तुत करता, कोई गज, रथ, अश्व आदि प्रस्तुत कर, उन पर बैठने की अनुनय-विनयपूर्वक प्रार्थना करता। सभी गृहस्वामियों ने अपने-अपने घर की अनमोल से अनमोल महार्घ्य वस्तुएँ तो प्रभु के समक्ष प्रस्तुत की किन्तु आहार प्रदान करने की विधि से

अनभिज्ञ उन लोगों में से किसी ने भी प्रभु के समक्ष विशुद्ध आहार प्रस्तुत नहीं किया। इस प्रकार अनुक्रमशः प्रत्येक घर से विशुद्ध आहार न मिलने के कारण प्रभु निराहार ही लौटते रहे और मौन धारण किये हुए शान्त, दान्त भगवान् ऋषभदेव एक के पश्चात् दूसरे घर में प्रवेश करते एवं पुनः लौटते हुए आगे की ओर बढ़ रहे थे। राजप्रासाद के पास सुविशाल जनसमूह का कोलाहल सुनकर हस्तिनापुराधीश ने दौवारिक से कारण ज्ञात करने को कहा। प्रभु का आगमन सुन महाराज सोमप्रभ और युवराज श्रेयांसकुमार हर्षविभोर हो त्वरित गति से तत्काल प्रभु के सम्मुख पहुँचे। आदक्षिणा — प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन-नमन और चरणों में लुण्ठन के पश्चात् हाथ जोड़े वे दोनों पिता पुत्र आदिनाथ की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखते ही रह गये। गहन अंतःकरण में छुपी स्मृति से श्रेयांसकुमार को आभास हुआ कि उन्होंने प्रभु जैसा ही वेश पहले कभी कहीं न कहीं देखा है। उत्कट चिन्तन और कर्मों के क्षयोपशम से श्रेयांसकुमार को तत्काल जातिस्मरण ज्ञान हो गया। जातिस्मरण-ज्ञान के प्रभाव से उन्हें प्रभु के वज्रनाभादि भवों के साथ अपने पूर्वभवों का और मुनि को निर्दोष आहार प्रदान करने की विधि का स्मरण हो गया। श्रेयांस ने तत्काल निर्दोष-विशुद्ध इक्षुरस का घड़ा उठाया और प्रभु ने निवेदन किया, हे आदि प्रभो! आदि तीर्थेश्वर! जन्म-जन्म के आपके इस दास के हाथ से यह निर्दोष कल्पनीय इक्षुरस ग्रहण कर इसे कृतकृत्य कीजिये। प्रभु ने करद्वयपुटकमयी अंजलि आगे की। श्रेयांस ने तत्काल श्रद्धा-भक्ति एवं भावनापूर्वक इक्षुरस प्रभु की अंजलि में उड़ेला। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव ने पारणा किया। देवों ने गगनमण्डल से पंच दिव्यों की वृष्टि की। अहो दानम्, अहो दानम्! के निर्घोषों, जयघोषों और दिव्य दुन्दुभि-निनादों से गगन गूंज

उठा। दसों दिशाओं में हर्ष की लहरें सी व्याप्त हो गईं। राध-शुक्ला अर्थात् वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन युवराज श्रेयांस ने भगवान् ऋषभदेव को प्रथम पारणक में इक्षुरस का यह अक्षय दान दिया। इसी कारण वैशाख शुक्ला तृतीया, का दिन अक्षय तृतीया के नाम से प्रसिद्ध हुआ और वह अक्षय तृतीया का पर्व आज भी लोक में प्रचलित है।

अपभ्रंश भाषा के महाकवि पुष्पदंत द्वारा रचित महापुराण की रिसहकेवणाणुत्पत्ती नामक नवम सन्धि पृ० १४८-१४९ में भी भगवान् ऋषभदेव के प्रथम पारणे का उल्लेख मिलता है।

ता दुंदुहि खेण भरियं दिसावसाम्।

भणिया सुरवरेहि भो साहु साहु दाणम् ॥ १

पंचवण्णमाणिककमिसिद्धी, घरप्रंगणि वसुहार वरिद्धी।

णं दीसइ ससिरविबिंबच्छिहि, कंठभट्ट कंठिय णहलच्छिहि।

मोहबद्धणवपेम्महिरी विव, सग्ग सरोयहु णालसिरी विव।

रयणसमुज्जलवरगयपंति व, दाणमहातरुहलसंपत्ति व।

सेयंसहु घणएण णिउंजिय, उक्कहिं उडमाला इव पंजिय।

पूरियसंवच्छर उववासें, अक्खयदाणु भणिउं परमेसें।

तहु दिवसहु अत्थेण समायउ, अक्खयतइय णाउं संजायउ।

घरु जायवि भरहें अहिणंदिउ, पढमु दाणतित्थंकरु वंदिउ।

अहियं पक्ख तिण्ण सविसेसें, किंचूणे दिण कहिय जिणेसें,

भोयणवित्ती लहीय तमणासे, दाणतित्थु घोसिउ देवीसें।”

महाकवि पुष्पदन्त ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि ज्यों ही श्रेयांसकुमार ने अपने राजप्रासाद में भगवान् ऋषभदेव को इक्षुरस से पारणा करवाया त्यों ही दुन्दुभियों के घोष से दशों दिशाएँ पूरित हो गईं। देवों ने अहो दानम्, अहो दानम् एवं साधु-साधु के निर्घोष पुनः पुनः किये। श्रेयांस के प्रासाद के

प्रांगण में दिव्य वसुधारा की ऐसी प्रबल वृष्टि हुई कि चारों ओर रत्नों की विशाल राशि दृष्टिगोचर होने लगी। प्रभु का संवत्सर तप पूर्ण हुआ और कुछ दिन कम साढ़े तेरह मास के पश्चात् भोजन वृत्ति प्राप्त होने पर भगवान् ने प्रथम तप का पारणा किया। इस दान को अक्षयदान की संज्ञा दी गई। उसी दिन से प्रभु के पारणे के दिन का नाम अक्षय तृतीया प्रचलित हुआ। भरत चक्रवर्ती ने श्रेयांसकुमार के घर जाकर उनका अभिनन्दन एवं सम्मान करते हुए कहा, वत्स! तुम इस अवसर्पिणीकाल के दानतीर्थ के प्रथम संस्थापक हो, अतः तुम्हें प्रणाम है।

इन सब उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि यह मान्यता प्राचीनकाल से चली आ रही है कि भगवान् ऋषभदेव का प्रथम पारणा अक्षय तृतीया के दिन हुआ था। अक्षय तृतीया का पर्व प्रभु के प्रथम पारणे के समय श्रेयांसकुमार द्वारा दिये गये प्रथम अक्षय दान से सम्बन्धित है। वाचस्पत्यभिधान के श्लोक में भी अक्षय तृतीया को दान का उल्लेख मिलता है।

वैशाखमासि राजेन्द्र, शुक्लपक्षे तृतीयका।

अक्षया सा तिथि प्रोक्ता, कृत्तिकारोहिणीयुता॥

तस्यां दानादिकं सर्वमक्षयं समुदाहृतम्। . . .

प्रव्रज्या ग्रहण करने के १००० वर्ष तक विचरने के बाद ऋषभदेव पुरिमताल नगर के बाहर शकट मुख नामक उद्यान में आये और फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन अष्टम तप के साथ दिन के पूर्व भाग में, उत्तराषाढा नक्षत्र में प्रभु को एक वटवृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। केवलज्ञान द्वारा ज्ञान की पूर्ण ज्योति प्राप्त कर लेने के पश्चात् समवसरण में प्रभु ने प्रथम देशना दी। समवसरण का अर्थ अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार “सम्यग् एकीभावेन अवसरणमेकत्र गमनं मेलापकः समवसरणम्” अर्थात् अच्छी तरह से एक स्थान पर मिलना,

साधु-साध्वी आदि संघ का एक संग मिलना एवं व्याख्यान सभा। समवसरण की रचना के विषय में जैन शास्त्रों में उल्लेख है कि वहाँ देवेन्द्र स्वयं आते हैं तथा तीन प्रकारों वाले समवसरण की रचना करते हैं जिसकी एक निश्चित विधि होती है।

माता मरुदेवी अपने पुत्र ऋषभदेव के दर्शन हेतु व्याकुल हो रही थी। प्रव्रज्या के बाद अपने प्रिय पुत्र को एक बार भी नहीं देख पायी थी। भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान प्राप्त होने का शुभ संदेश जब सम्राट भरत ने सुना तो वे मरुदेवी को लेकर ऋषभदेव के पास जाते हैं। समवसरण में पहुँचकर माता मरुदेवी ने जब ऋषभदेव को देखा तो सोचने लगी— मैं तो सोचती थी कि मेरा पुत्र कष्टों में होगा लेकिन वह तो अनिर्वचनीय आनन्दसागर में झूल रहा है। इस प्रकार विचार करते करते उनके चिन्तन का प्रवाह बदल गया वे आर्तध्यान से शुक्ल ध्यान में आरुण हुई और कुछ ही क्षणों में ज्ञान, दर्शन, अन्तराय और मोह के बन्धन को दूर कर केवल ज्ञानी बन गयी और गजारुढ़ स्थिति में ही वे मुक्त हो गईं। इस सन्दर्भ में त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में लिखा है—

करिस्कन्धाधिरुद्धैव, स्वामिनि मरुदेव्यथ।

अन्तकृत्केवलित्वेन, प्रवेदे पदमव्ययम् ॥

(त्रिषष्टि श. पु. चरित्रम्, १।३।५३०)

आवश्यक चूर्णिकार के अनुसार क्षत्र भायण्डादि अतिशय देखकर मरुदेवी को केवल ज्ञान हुआ। आयु का अवसानकाल सन्निकट होने के कारण कुछ ही समय में शेष चार अघाती कर्मों को समूल नष्टकर गजारुढ़ स्थिति में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गईं।

‘भगवतो य छत्तारिच्छत्तं पेच्छंतीए चेव केवलनाणं उप्पन्नं,
तं समयं च णं’ ‘आयुं खुट्टं सिद्ध देवेहिं य से पूया कता’ . . . ।

(आवश्यक चूर्णि, जिनदास),

इस प्रकार इस अवसर्पिणी काल में सिद्ध होने वाले जीवों में माता मरुदेवी का प्रथम स्थान है।

आवश्यक निर्युक्ति में उल्लेख है कि— भगवान् ऋषभदेव की फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन प्रथम देशना हुई ।

फग्गुणबहुले इक्कारसीई अह अट्टमेण भत्तेण।

उप्पन्नमि अणंते, महव्वया पंच पण्णवए ॥

(आवश्यक निर्युक्ति गाथा – २०७)

फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन शुद्ध एवं चारित्र धर्म का निरूपण करते हुए रात्रि भोज विमरण सहित पंच महाव्रत धर्म का उपदेश दिया। तत्पश्चात् साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूपी धर्म तीर्थ की स्थापना कर भगवान् प्रथम तीर्थकर बने। उनके उपदेशों को सुनकर भरत के ५०० पुत्रों और ७०० पौत्र दीक्षा लेकर साधु बनें और ब्राह्मी आदि ५०० स्त्रियां साध्वी बनीं। ऋषभसेन ने भगवान् के पास प्रव्रज्या ग्रहण की और १४ पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया। भगवान् के ८४ गणधर हुए जिनमें ऋषभसेन पहले गणधर बने। कहीं-कहीं पुण्डरिक नाम का उल्लेख भी मिलता है परन्तु समवायांग सूत्र में ऋषभसेन नाम का उल्लेख है। आवश्यक चूर्णी में भी ऋषभसेन नाम का ही उल्लेख मिलता है।

“तत्थ उसभसेणो णाम भरहस्स रत्तो पुत्तो सो धम्म सोऊण पव्वइतो तेण तिहिं” “पुच्छाहिं चोद्दसपुव्वाइं गहिताई उप्पन्ने विगते धुत्ते, तत्थ बम्भीवि पव्वइया”।

भगवान् ऋषभदेव द्वारा स्थापित किये गये धर्म तीर्थ की शरण में आकर अनादिकाल से जनम-मरण के चक्र में फँसे अनेकानेक भव्य प्राणियों ने आठों कर्मों को क्षय करके मुक्ति प्राप्त की। भगवान् ऋषभदेव ने एक ऐसी सुखद और सुन्दर मानव संस्कृति का आरम्भ किया जो सह-अस्तित्व, विश्व बन्धुत्व और लोक कल्याण आदि गुणों से ओत-

प्रोत और प्राणी मात्र के लिये सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में कल्याणकारी थी। इसीलिये सभी धर्मों के प्राचीन ग्रन्थों में भगवान् ऋषभदेव का प्रमुख स्थान है। वेदों, पुराणों, मनुस्मृति, बौद्ध ग्रन्थों आदि में ऋषभदेव का वर्णन और उनकी प्रशस्ति में श्लोक मिलते हैं। महाकवि सूरदास के शब्दों में —

बहुरि रिसभ बड़े जब भये नाभि राज देवनको गये।

रिसभ राज परजा सुख पायो जस ताको सब जग में छायो ॥

(सूरसागर)

ऋषभदेव की शिष्य संपदा के विषय में कल्पसूत्र में लिखा है—

उसभस्स णं अरहओ को सलियस्स चउरासीइं गणा,
चउरासीइं गणहरा होत्था। उसभस्स णं अरहओ कोस
लियस्स उस भसेण - पामोक्खाओ चउरासीइं समण
साहस्सीओ उक्कोसिया समण संपया होत्था। उसभस्स णं
अरहओ कोसलियस्स बंभी - सुंदरी पामोक्खाणं अज्जियाणं
तिन्नि सय साहस्सीओ उक्कोसिया अज्जिया संपया होत्था।

अर्हत ऋषभ के चौरासी गण और चौरासी गणधर थे। उनके संघ में चौरासी हजार श्रमण थे जिनमें वृषभसेन प्रमुख थे। तीन लाख श्रमणियां थी जिनमें ब्राह्मी और सुन्दरी प्रमुख थी।

इक्ष्वाकु कुल और काश्यप गोत्र में उत्पन्न ऋषभदेव इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर माने जाते हैं। इन्हें सभ्यता और संस्कृति का आदि पुरुष कहा जाता है। त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में इनके बारह पूर्वभवों का वर्णन भी है। वैदिक परम्परा में वेदों, पुराणों में भी ऋषभदेव का वर्णन अनेक स्थानों पर मिलता है। पुरातात्विक स्रोतों से भी ऋषभदेव के बारे में सूचनाएं मिलती हैं। अब तक की सबसे प्राचीन प्राप्त मूर्ति जो हड़प्पा और मोहनजोदड़ों में मिली है उसके विषय में T.N.

Ramchandra (Joint Director General of Indian Archaeology) ने स्पष्ट लिखा है—

We are perhaps recognising in Harappa statuette a fullfledged Jain Tirthankara in the characteristic pose of physical abandon (Kayotsarga)

The images of Rsabha with Trishula- like decoration on the head in a developed artistic shape are also found at a later period. Thus the figures on the Mohanjodaro seals vouchsafe the prevalence of the religion and worship of Jain Rsabha at the early period on the western coast of the country.

According to Jambudvipa Prajnapati, “Rsabhadeva was the first tribal leader to make invention of sword by smelting iron ore and to introduce alphabetic writing and its utilization for literary records. The age of Nabhi and his son Rsabha was the age of transition from the upper stage of Kulakarism into the dawn of civilization.”

The picture of the evolution of mankind through the infancy of the human race and kulakarism to the dawn of civilization as depicted in Jain Agamas compares well with the picture of the evolution of mankind through savegery and barbarism to the beginning of civilization as sketched by F. Engels.

The Harappa statuette is a male torso in nude form which resembles the torso found in Lohanipur, Patna”. Historian K. P. Jayaswal declared that ‘ It is the oldest Jain image yet found in India . . . In the face of similarities the nude

torso of Harappa seems to represent an image of a Jina probably of Jain Rsabha.

इसी सन्दर्भ में प्रो० एस. आर. बनर्जी ने लिखा है—

“Jainism is a very old religion. There were 24 Tirthankars in Jainism. The first was known as Adinatha or Rsabhadeva and the 24th Tirthankara was Bhagavan Mahavira . . . If Lord Mahavira is attributed to the 6th century B.C., surely Rsabhadeva, the 1st Tirthankara, must have belonged to a much earlier period. It is to be noted that the name Rsabha is found in the Rgveda, which dates back to 1500 B.C.”
(Understanding Jain Religion in a Historical Perspective by Dr. Satya Ranjan Banerjee)

जैन धर्म में तीर्थंकर को धर्म तीर्थ का संस्थापक माना गया है। ‘नमोत्थुणं’ नामक प्राचीन प्राकृत स्तोत्र में तीर्थंकर को धर्म का प्रारम्भ करने वाला, धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाला, धर्म का प्रदाता, धर्म का उपदेशक, धर्म का नेता, धर्म मार्ग का सारथी और धर्म चक्रवर्ती कहा गया है—

नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं आङ्गराणं, तित्थयगराणं, सयंसंबुद्धाणं . . . पुरिसुत्तमाणं, पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीयाणं पुरिसवर-गंधहत्थीणं। लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगहियाणं, लोक-पईवाणं, लोग-पज्जोयगराणं . . . धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं, धम्मसारहीणं, धम्मवर-चाउरंत-चक्कवट्टीणं . . . जिणाणं जावयाणं, तिन्नाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोयगाणं . . .।

(कल्पसूत्र)

जैनधर्म में तीर्थंकर का कार्य है— स्वयं सत्य का साक्षात्कार करना और लोकमंगल के लिए उस सत्यमार्ग या सम्यक् मार्ग का

प्रवर्तन करना। वे धर्म-मार्ग के उपदेष्टा और धर्म-मार्ग पर चलने वालों के मार्गदर्शक हैं। उनके जीवन का लक्ष्य होता है स्वयं को संसार चक्र से मुक्त करना, आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करना और दूसरे प्राणियों को भी इस मुक्ति और आध्यात्मिक पूर्णता के लिये प्रेरित करना और उनके साधना में सहयोग प्रदान करना। तीर्थंकरों को संसार समुद्र से पार होने वाला और दूसरों को पार कराने वाला कहा गया है। वे पुरुषोत्तम हैं, उन्हें सिंह के समान शूरवीर, पुण्डरीक, कमल के समान वरेण्य और गन्धहस्ती के समान श्रेष्ठ माना गया है। वे लोक में उत्तम, लोक के नाथ, लोक के हितकर्ता, दीपक के समान लोक को प्रकाशित करने वाले कहे गये हैं।

तीर्थंकर शब्द का प्रयोग आचारांग, उत्तराध्ययन, समवायांग, स्थानांग एवं भगवती आदि में मिलता है। संस्कृति में तीर्थ शब्द का अर्थ घाट या नदी है। अतः जो किनारे लगाये वह तीर्थ है। सागर रूपी संसार से पार लगाने के लिये धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाले को तीर्थंकर कहते हैं। बौद्ध ग्रन्थ ‘दीघनिकाय’ में छः तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है। (१) पूर्ण काश्यप (२) मंखलि गोशाल (३) अजित केश कम्बल (४) प्रक्रुद्ध कात्यायन (५) संजयबेलटिड्ढपुत्र (६) निगण्ठनातपुत्र। विशेषावश्यक भाष्य में तीर्थ की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है कि जिसके द्वारा पार हुआ जाता है उसको तीर्थ कहते हैं। यहाँ तीर्थ के चार भाग बताये हैं। तीर्थ नाम से संबोधित किये जाने वाले स्थान ‘नाम तीर्थ’ कहलाते हैं। जिन स्थानों पर भव्य आत्माओं का जन्म, मुक्ति आदि होती है और उनकी स्मृति में मन्दिर, प्रतिमा आदि स्थापित किये जाते हैं वे ‘स्थापना तीर्थ’ कहलाते हैं। जल में डूबते हुए व्यक्ति को पार कराने वाले, मनुष्य की पिपासा को शान्त करने वाले और मनुष्य शरीर के मल को दूर करने वाले ‘द्रव्य तीर्थ’ कहलाते हैं। जिनके द्वारा

मनुष्य के क्रोध आदि मानसिक विकार दूर होते हैं तथा व्यक्ति भवसागर से पार होता है वह भावतीर्थ कहलाता है।

तीर्थ हर धर्म का केन्द्र स्थल तथा श्रद्धा स्थल हैं। तीर्थ वह स्थान है जहाँ किसी महापुरुष द्वारा साधना की गयी हो या मुक्ति प्राप्त की गयी हो। वह स्थान उस विलक्षण व्यक्तित्व की चेतना की उर्जा से प्रवाहित हो जाता है तथा वहाँ की चेतना की सघनता स्वयमेव उस स्थान को तीर्थ का रूप प्रदान कर देती है। जहाँ लोग आकर दर्शन करते हैं, साधना करते हैं क्योंकि वहाँ के वातावरण में तीर्थकरो और महापुरुषों के चैतन्य के परमाणु व्याप्त होते हैं। उनकी चेतना की ज्योति का घनत्व आत्म साधक की साधना की क्षमता को शीघ्र ही बढ़ा देता है। महोपाध्याय चन्द्रप्रभजी के शब्दों में—

तीर्थ में प्रवहमान चैतन्य धारा स्वतः में प्रवहमान होने लगती है। तीर्थ हमारी निष्ठा एवं श्रद्धा के सर्वोपरि माध्यम है। तीर्थ ही वे माध्यम है जिनके द्वारा हम अतीत के अध्यात्म में झाँक सकते हैं। तीर्थ सदा से हमारे सांस्कृतिक जीवन की धूरी रहे हैं। सारी की सारी नैतिक रक्त नाड़ियाँ यहीं से होकर गुजरती हैं और हमें संस्कृति तथा धर्म के तल पर नया जीवन- नयी उमंग प्रदान करती है। यहीं से हम उत्साह की मंद पड़ती लौ के लिये नयी ज्योति पाते हैं। संक्षेप में तीर्थ हमारे आत्म कला के सर्वो कृष्ट साधन हैं

प्राचीन शास्त्रों से यह पता चलता है कि तीर्थकर की अवधारणा का विकास अरिहंत की अवधारणा से हुआ है। उत्तराध्ययन में सबसे पहले हमें तित्थयर शब्द मिलता है। तीर्थकर के लिये बुद्ध शब्द का प्रयोग जैन आगमों में तथा बौद्ध पिटको में बुद्धों का तीर्थकर के रूप में प्रयोग मिलता है।

तीर्थ स्थानों में व्यक्ति सब चिंताओं से मुक्त हो भाव विभोर हो भक्ति में लीन हो जाता है। जितने समय तक वहाँ रहता है एक विशेष सुख शान्ति का अनुभव करता है। तीर्थों की गरिमा मन्दिरों से अधिक है। जैन धर्म में २४ तीर्थकरो की मान्यता है। महाभारत और पुराणों में तीर्थ यात्रा के महत्व को बतलाते हुए उन्हें यज्ञों की तुलना में श्रेष्ठ बताया गया है। बौद्ध परम्परा में भी बुद्ध के जन्म, ज्ञान, धर्म चक्र प्रवर्तन और निर्वाण इन चार स्थानों को पवित्र मानकर यहाँ यात्रा करने का निर्देश मिलता है। चीनी यात्री फाह्यान, हेनसांग, इत्सिंग आदि बौद्ध यात्री तीर्थों की यात्रा हेतु भारत आये थे।

जैन शास्त्रों में तीर्थकरों के निर्वाण स्थल, जन्म स्थल, तथा अन्य कल्याणक भूमियों को तीर्थ के रूप में मान्यता दी गयी है तथा उन स्थानों पर बनाये गये चैत्यों-स्तूपों तथा वहाँ पर जाकर महोत्सव मनाने का वर्णन आगम साहित्य में उपलब्ध मिलता है। आचारांग निर्युक्ति, निशीथ चूर्णी, व्यवहार चूर्णी, महानिशीथ, श्री पंचाशक प्रकरणम्, हरिभद्र सूरि सारावली प्रकीर्णक, सकल तीर्थ स्तोत्र, अष्टोत्तरी तीर्थमाला, प्रबन्धग्रन्थों तथा कल्प प्रदीप जिनप्रभ सूरि रचित विविध तीर्थकल्प आदि ग्रन्थों में तीर्थों, तीर्थ यात्री संघों द्वारा तीर्थों की यात्रा का उल्लेख मिलता है तथा उनकी महत्ता का भी वर्णन मिलता है।

तीर्थकरों द्वारा स्थापित साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका का चतुर्विध संघ 'तित्थं पुण चाउवन्ने समणसंघे, समणा, समणीओ, सावया सावियाओ' (भगवती सूत्र शतक २० उ० ८ सूत्र ७४) भी संसार रूपी समुद्र से पार कराने वाला भाव तीर्थ कहा जाता है। इस प्रकार के चतुर्विध संघ के निर्माण का वर्णन प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव से अन्तिम तीर्थकर वर्द्धमान महावीर तक हमें मिलता है। जैन परम्परा में तीर्थ शब्द के अर्थ का ऐतिहासिक विकास क्रम देखने को मिलता है। यहाँ तीर्थ शब्द को

आध्यात्मिक अर्थ प्रदान कर आध्यात्मिक साधना मार्ग को तथा उस साधना के अनुपालन करने वाले साधकों के संघ को तीर्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। धार्मिक क्रियाओं में चतुर्विध श्रीसंघ की मान्यता तथा चतुर्विध श्री संघ द्वारा तीर्थयात्रा को एक धार्मिक क्रिया के रूप में मान्यता दी गयी है।

ऋग्वेद में तीर्थों का वर्णन नहीं है क्यों कि प्रारम्भ में वैदिक लोग मन्दिर और मूर्ति पूजा में विश्वास नहीं रखते थे। लेकिन श्रमण संस्कृति के प्रभाव के फलस्वरूप उपनिषदों, पुराणों, महाभारत आदि में तीर्थ यात्राओं की उच्चकोटि की महत्ता मानी गयी और इनका वर्णन किया गया। इन तीर्थ यात्राओं की कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार थी। (१) ये यात्राएँ किसी विशेष पूजा पद्धति के अनुयायी सम्मिलित होकर करते थे। (२) इनकी यात्रा का लक्ष्य कोई प्रमुख तीर्थ स्थान रहता था। (३) इन यात्रा में संतों और मुनियों के समागम को प्रत्येक धर्म में महत्ता दी गयी। (४) इन संघों के यात्री मार्ग में धर्म प्रभावना का कार्य निरन्तर करते थे। दान और पुण्य का बड़ा महत्व समझा जाता था। (५) यात्रा के मार्ग में पड़ने वाले जीर्ण शीर्ण मन्दिरों की व्यवस्था की जाती थी। निर्धन वर्ग को सहायता प्रदान करना एवं मार्ग में विशेष सुविधाओं की स्थापना करना अति पुण्य का कार्य समझा जाता था। (६) इस प्रकार की यात्राओं का व्यय एक व्यक्ति या कुछ व्यक्ति सम्मिलित हो उठाते थे। (७) मार्ग में पड़ने वाले राज्यों के शासक भी संघों के यात्रियों की व्यवस्था करते थे तथा यात्री संघों द्वारा शासकों को भेट दी जाती थी जिसके बदले ये शासक विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ यात्रियों को उपलब्ध कराते थे। संतों का प्रयास रहता था कि शासक को धार्मिक सिद्धान्तों की ओर प्रेरित करे। इस प्रकार हम देखते हैं कि तीर्थ और तीर्थ यात्रा संघों का महत्व धार्मिक तीर्थों की देखभाल और पुनरुद्धार के लिये, विभिन्न जातियों और भाषा-भाषियों

से सम्पर्क स्थापित करने के लिये, मानव जीवन के श्रेष्ठतम मूल्यों के प्रसार के लिये, देश के विभिन्न भागों की जानकारी एवं नजदीकी सम्बन्ध स्थापित करने के लिये, राजकीय संरक्षण के लिये तथा शासकों में धर्म प्रचार के लिये आवश्यक बना रहा।

तीर्थकरों का जन्म स्वयं के कल्याण के लिये ही नहीं अपितु जगत के कल्याण के लिये होता है। अतः उनके जीवन के विशिष्ट मंगल दिनों को कल्याणक दिन कहा जाता है। जैन परम्परा में तीर्थकरों के पंच कल्याणक माने जाते हैं।

पंच महाकल्लाणा सव्वेसिं हवंति नियमेण।

(पंचासक-हरिभद्र ४२४)

जस्स कम्ममुदएण जीवो पंचमहाकल्लाणाणि पाविदूण तित्थ दुवालसंगं कुणदि तं तित्थयरणाम।”

(धवला १३/५, १०१/३६६/६, गोम्मटसार, जीवकाण्ड, टीका ३८१/६)

ये पंच कल्याणक दिन निम्नलिखित हैं—

गर्भकल्याणक— तीर्थकर जब भी माता के गर्भ में अवतरित होते हैं तब श्वेताम्बर परंपरा के अनुसार माता १४ और दिगम्बर परंपरा के अनुसार १६ स्वप्न देखती है तथा देवता और मनुष्य मिलकर उनके गर्भावतरण का महोत्सव मनाते हैं।

जन्मकल्याणक— जैन मान्यतानुसार जब तीर्थकर का जन्म होता है, तब स्वर्ग के देव और इन्द्र पृथ्वी पर आकर तीर्थकर का जन्म कल्याणक महोत्सव मनाते हैं और मेरु पर्वत पर ले जाकर वहां उनका जन्माभिषेक करते हैं।

दीक्षाकल्याणक— तीर्थकर के दीक्षाकाल के उपस्थित होने के पूर्व लोकान्तिक देव उनसे प्रव्रज्या लेने की प्रार्थना करते हैं। वे एक वर्ष तक करोंड़ों स्वर्ण मुद्राओं का दान करते हैं। दीक्षा तिथि के

दिन देवेन्द्र अपने देवमंडल के साथ आकर उनका अभिनिष्क्रमण महोत्सव मनाते हैं। वे विशेष पालकी में आरूढ़ होकर वनखण्ड की ओर जाते हैं जहाँ अपने वस्त्राभूषण का त्यागकर तथा पंचमुष्टि लोंच कर दीक्षित हो जाते हैं। नियम यह है कि तीर्थकर स्वयं ही दीक्षित होता है किसी गुरु के समीप नहीं।

कैवल्यकल्याणक— तीर्थकर जब अपनी साधना द्वारा कैवल्य ज्ञान प्राप्त करते हैं उस समय भी स्वर्ग से इन्द्र और देवमंडल आकर कैवल्य महोत्सव मनाते हैं। उस समय देवता तीर्थकर की धर्म सभा के लिये समवसरण की रचना करते हैं।

निर्वाणकल्याणक— तीर्थकर के परिनिर्वाण प्राप्त होने पर देवों द्वारा उनका दाह संस्कार कर परिनिर्वाणोत्सव मनाया जाता है।

आरम्भिक जैन आगम साहित्य में सिद्धान्तों पर महत्व दिया गया है तीर्थों पर कम। यहां सबसे पूर्व कल्याणकों को तीर्थ के रूप में बताया गया है। गर्भ (च्यवन), जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, निर्वाण। जिसमें निर्वाण स्थल का महत्व ज्यादा है जैन साहित्य में पाँच तीर्थों की महिमा का विशेष वर्णन मिलता है—

आबू, अष्टापद, गिरनार, सम्मेत शिखर, शत्रुञ्जय सार।

ये पाँचे उत्तम ठाम, सिद्धि गया तेने करूँ प्रणाम ॥

निर्वाण स्थलों के विषय में रविसेन ने पद्मपुराण में लिखा है कि—

Many are the great souls who conquered their passions and attain release in times long passed; though these great souls have now vanished from our sight, we can still see the places that they sanctified by their glorious acts.

आचार्य पूज्यपाद ने निर्वाण भक्ति में लिखा हैं—

Just as cakes become sweet when they are coaled with

sugar frosting so do places in this world become holy and pure when a Saint abides in them

(Pujiyapada – निर्वाण भक्ति)

जब मनुष्यों का तीर्थों में आवागमन अवरुद्ध हो जाता है राजनैतिक या भौगोलिक कारणों से तो अपने पहुंच के क्षेत्र में ही उस तीर्थ की यादगार प्रतीक बनाकर पूजा करते हैं। अष्टापद जो प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव की निर्वाणभूमि है, उसके विषय में भी ऐसा ही हुआ है। लेकिन आज जो साहित्यिक स्रोत हमारे पास है उससे हमें अष्टापद की काफी जानकारी मिलती है जिसके आधार पर अष्टापद की अवस्थिति का पता चल सकता है।

आदि तीर्थकर ऋषभदेव का निर्वाण अष्टापद पर हुआ था जिसका विवरण कल्पसूत्र में हमें मिलता है—

चउरासीइं पुव्वसय - सहस्साइं सिव्वाउयं पालइत्ता खीणे वेयणिज्जाउज—णाम—गोत्ते इमीसे ओसप्पिणीए सुसम—दुस्समाए समाए बहु विइक्कंताए तिहिं वासेहिं अद्ध नवमेहिं य मासेहिं सेसेहिं जे से हेमंताणं तच्चे मासे पंचमे पक्खे, माह बहुले, तस्स णं माह बहुलस्स तेरसी पक्खेणं उप्पिं अट्ठावय सेल-सिहरंसि दसहिं अणगार - सहर-सेहिं सिद्धिं चोद्वसमेण भत्तेण अपाणएणं अभिइणा नक्खत्तेणं जोगभुवा गएणं पुव्वण्ह-काल-समयंसि संपलियंक-निसन्ने कालगए विइक्कंते जाव सव्व-दुक्ख-पहीणे ॥ १९९

चौरासी लाख पूर्व वर्ष की आयु पूरी होने पर उनके वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्मों का क्षय हो गया। उस समय वर्तमान अवसर्पिणी के सुषम-दुषम नामक तीसरे आरे के बीत जाने में तीन वर्ष साढ़े आठ महीने बाकी बचे थे। हेमन्त ऋतु का तीसरा

महीना और पाँचवा पक्ष चल रहा था। माघ कृष्ण तेरस के दिन अष्टापद पर्वत के शिखर पर दोपहर से पूर्व ऋषभदेव १० हजार श्रमणों के साथ जलरहित चतुर्दश भक्त (छह उपवास) तप का पालन करते हुए पर्यकासन में ध्यान मग्न बैठे थे। तब अभिजित नक्षत्र का योग आने पर वे काल धर्म को प्राप्त हुए। समस्त दुःखों से पूर्णतया मुक्त हो गये।

जैन परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने सर्वज्ञ होने के पश्चात् आर्यावर्त के समस्त देशों में विहार किया, भव्य जीवों को धार्मिक देशना दी और आयु के अन्त में अष्टापद (कैलाश पर्वत) पहुँचे। वहाँ पहुंचकर योगनिरोध किया और शेष कर्मों का क्षय करके माघ कृष्ण चतुर्दशी के दिन अक्षय शिवगति (मोक्ष) प्राप्त की।

भगवान् ऋषभदेव ने अष्टापद (कैलाश) में जिस दिन शिवगति प्राप्त की उस दिन समस्त साधु-संघ ने दिन को उपवास तथा रात्रि को जागरण करके शिवगति प्राप्त भगवान् की आराधना की, जिसके फलस्वरूप यह तिथि रात्रि 'शिवरात्रि' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

उत्तर प्रान्तीय जैनेतर वर्ग में प्रस्तुत शिवरात्रि पर्व फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी को माना जाता है। उत्तर तथा दक्षिण देशीय पंचागों में मौलिक भेद इसका मूल कारण है। उत्तरप्रान्त में मास का प्रारम्भ कृष्ण-पक्ष से माना जाता है और दक्षिण में शुक्ल-पक्ष से। प्राचीन मान्यता भी यही है। जैनेतर साहित्य में चतुर्दशी के दिन ही शिवरात्रि का उल्लेख मिलता है। ईशान संहिता में लिखा है—

माघे कृष्णचतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि।

शिवलिंगतयोद्भूतः कोटिसूर्यसमप्रभः ॥

प्रस्तुत उद्धरण में जहाँ इस तथ्य का संकेत है कि माघकृष्ण चतुर्दशी को ही शिवरात्रि मान्य किया जाना चाहिए, वहाँ उसकी

मान्यतामूलक ऐतिहासिक कारण का भी निर्देश है कि उक्त तिथि की महानिशा में कोटि सूर्य प्रभोपम भगवान् आदिदेव (वृषभनाथ) शिवरात्रि प्राप्त हो जाने से **शिव** इस लिंग (चिह्न) से प्रकट हुए- अर्थात् जो शिव पद प्राप्त होने से पहले आदिदेव कहे जाते थे, वे अव शिव पद प्राप्त हो जाने से शिव कहलाने लगे।

उत्तर तथा दक्षिण प्रान्त की यह विभिन्नता केवल कृष्ण-पक्ष में ही रहती है, पर शुक्ल-पक्ष के सम्बन्ध में दोनों ही एक मत है। जब उत्तर भारत में फाल्गुन कृष्णपक्ष चालू होगा तब दक्षिण भारत का वह माघ कृष्ण-पक्ष कहा जायगा। जैनपुराणों के प्रणेता प्राय दक्षिण भारतीय जैनाचार्य रहे हैं, अतः उनके द्वारा उल्लिखित माघकृष्ण चतुर्दशी उत्तर भारतीय जन की फाल्गुन कृष्ण-चतुर्दशी ही हो जाती है। कालमाघवीय नागर खण्ड में प्रस्तुत माघवैषम्य का निम्न प्रकार समन्वय किया गया है।

माघ मासस्य शेषे या प्रथमे फाल्गुणस्य च।

कृष्णा चतुर्दशी सा तु शिवरात्रिः प्रकीर्तिता।

दक्षिणात्य जन के माघ मास के शेष अथवा अन्तिम पक्ष की और उत्तरप्रांतीय जन के फाल्गुन के प्रथम मास की कृष्ण चतुर्दशी 'शिवरात्रि' कही गई है।

(ऋषभदेव तथा शिव सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ)

इस प्रकार वैदिक साहित्य में माघ कृष्ण चतुर्दशी के दिन आदि देव का शिव लिंग के रूप में उद्भव होना माना गया है और भगवान् आदिनाथ के शिव पद प्राप्ति का इससे साम्य प्रतीत होता है अतः यह सम्भव है कि भगवान् ऋषभदेव की निषद्या (चिता स्थल) पर जो स्तूप का निर्माण किया गया वहीं आगे चलकर स्तूपाकार चिन्ह शिवलिंग के रूप में लोक में प्रचलित हो गया है।

भगवान् ऋषभदेव का निर्वाण होते ही सौधर्मेन्द्र शक आदि ६४ इन्द्रों के आसन चलायमान हुए। वे सब इन्द्र अपने-अपने विशाल देव परिवार

और अद्भुत दिव्य ऋद्धि के साथ अष्टापद पर्वत के शिखर पर आये। देवराज शक्र की आज्ञा से देवों ने तीन चिताओं और तीन शिविकाओं का निर्माण किया। शक्र ने क्षीरोदक से प्रभु के पार्थिव शरीर को और दूसरे देवों ने गणधरों तथा प्रभु के शेष अन्तेवासियों के शरीरों को क्षीरोदक से स्नान करवाया। उन पर गोशीर्ष चन्दन का विलेपन किया गया। शक्र ने प्रभु के और देवों ने गणधरों तथा साधुओं के पार्थिव शरीरों को क्रमशः तीन अतीव सुन्दर शिविकाओं में रखा। जय-जय नन्दा, जय जय भद्रा आदि जयघोषों और दिव्य देव वाद्यों की तुमुल ध्वनि के साथ इन्द्रों ने प्रभु की शिविका को, और देवों ने गणधरों तथा साधुओं की दोनों पृथक्-पृथक् शिविकाओं को उठाया। तीनों चिताओं के पास आकर एक चिता पर शक्र ने प्रभु के पार्थिव शरीर को रखा। देवों ने गणधरों के पार्थिव शरीर उनके अन्तिम संस्कार के लिए निर्मित दूसरी चिता पर और साधुओं के शरीर तीसरी चिता पर रखे। शक्र की आज्ञा से अग्नि कुमारों ने क्रमशः तीनों चिताओं में अग्नि की विकुर्वणा की और वायुकुमार देवों ने अग्नि को प्रज्ज्वलित किया। उस समय अग्निकुमारों और वायुकुमारों के नेत्र अश्रुओं से पूर्ण और शोक से बोझिल बने हुए थे। गोशीर्ष चन्दन की काष्ठ से चुनी हुई उन चिताओं में देवों द्वारा कालागरु आदि अनेक प्रकार के सुगन्धित द्रव्य डाले गये। प्रभु के और उनके अन्तेवासियों के पार्थिव शरीरों का अग्नि-संस्कार हो जाने पर शक्र की आज्ञा से मेघकुमार देवों ने क्षीरोदक से उन तीनों चिताओं को ठंडा किया। सभी देवेन्द्रों ने अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार प्रभु की दाढ़ों और दांतों को तथा शेष देवों ने प्रभु की अस्थियों को ग्रहण किया।

तदुपरान्त देवराज शक्र ने भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों को सम्बोधित करते हुए कहा—

हे देवानुप्रियों! शीघ्रता से सर्वरत्नमय विशाल आलयों (स्थान) वाले तीन चैत्य-स्तूपों का निर्माण करो। उनमें से एक तो तीर्थकर प्रभु ऋषभदेव की चिता के स्थान पर हो। उन चार प्रकार के देवों ने क्रमशः प्रभु की चिता पर, गणधरों की चिता पर और अणगारों की चिता पर तीन चैत्य स्तूपों का निर्माण किया।

आवश्यक निर्युक्ति में उन देवनिर्मित और आवश्यक मलय में भरत निर्मित चैत्यस्तूपों के सम्बन्ध में जो उल्लेख है, वह इस प्रकार है—

मडयं मयस्स देहो, तं मरुदेवीए पढम सिद्धो ति ।

देवेहिं पुरा महियं, झावणया अग्गिसक्कारो य ॥ ६०

सो जिणदेहाईणं, देवेहिं कतो चितासु थूभा य ।

सद्दो य रुण्णसद्दो, लोगो वि ततो तहाय कतो ॥ ६१

तथा भगवद्देहादिदग्धस्थानेषु भरतेन स्तूपा कृता, ततो ।

आवश्यक मलय में लिखित है —

लोकेऽपि तत आरभ्य मृतक दाह स्थानेषु स्तूपा प्रवर्तन्ते ॥

आचारांग निर्युक्ति के अतिरिक्त आवश्यक निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथाओं से भी अष्टापद तीर्थ का विशेष परिचय मिलता है— आवश्यक सूत्र जैनागम के अन्तर्गत चार मूल सूत्रों में द्वितीय है। जीवन की वह क्रिया जिसके अभाव में मानव आगे नहीं बढ़ सकता आवश्यक कहलाती है। आवश्यक सूत्र की सबसे प्राचीन व्याख्या आवश्यक निर्युक्ति है जिसमें भगवान ऋषभदेव के चरित्र का वर्णन मिलता है जिसके अन्तर्गत उनका अष्टापद पर विहार करने, निर्वाण प्राप्त करने तथा भरत द्वारा चैत्यों का निर्माण करने का विवरण है—

तिथ्यराण पढमो असभरिसी विहरिओ निरुवसग्गो ।

अट्टावओ जगवरो, अग्ग (य) भूमि जिणवरस्स ॥ ३३८

अह भगवं भवमहणो, पुव्वाणमणूणं सयसहस्सं।
 अणुपुव्वीं विहरिऊणं, पत्तो अट्ठावयं सेलं ॥ ४३३
 अट्ठावयंमि सेले, चउदस भत्तेण सो महरिसीणां।
 दसहि सहस्सेहिं समं, निव्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥ ४३४
 निव्वाणं चिइगागिई, जिणास्स इक्खाग सेसयाणं च।
 सकहा थूभरजिणहरे जायग तेणाहि अग्गित्ति ॥ ४३५

तब संसार-दुःख का अन्त करने वाले भगवान् ऋषभदेव सम्पूर्ण एक लाख वर्षों तक पृथ्वी पर विहार करके अनुक्रम से अष्टापद पर्वत पर पहुंचे और छः उपवास के अन्त में दस हजार मुनिगण के साथ सर्वोच्च निर्वाण को प्राप्त हुए। भगवान् ऋषभदेव, उनके गणधरों और अन्तेवासी साधुओं की तीन चिताओं पर पृथक-पृथक तीन चैत्यस्तूपों का निर्माण करने के पश्चात् सभी देवेन्द्र अपने देव-देवी परिवार के साथ नन्दीश्वर द्वीप में गये। वहां उन्होंने भगवान् ऋषभदेव का अष्टाह्निक निर्वाण महोत्सव मनाया और अपने-अपने स्थान को लौट गये।

ऋषभदेव के निर्वाण स्थान अष्टापद का विवरण हमें आचारांग निर्युक्ति, आवश्यक निर्युक्ति, उत्तराध्ययन सूत्र की निर्युक्ति के अध्ययन १० में, निशित्थ चूर्णि, विविध तीर्थ कल्प, आचार्य धर्मघोष सूरि रचित ज्ञानप्रकाश दीप, शिलांक की कृति चउपन्न महापुरिष चरियं (९वीं शताब्दी), आदि पुराण और उत्तर पुराण, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरियं (हेमचन्द्राचार्य), पंचमहातीर्थ, शत्रुञ्जय महात्मय (धनेश्वर सूरि कृत) वसुदेव हिन्डी, जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति, तिलोयपण्णति, पंच महातीर्थ, अष्टापद तप, गौतम रास, गौतम अष्टकम, रविषेण के पद्म चरित, विमलसूरि के पउमचरिउ, पूज्यपाद के निर्वाण भक्ति, पोटाला पैलेस (दलाईलामा का निवास स्थान) के प्राचीन ग्रन्थों में, लामचीदास गोलालारे का विवरण 'मेरी

कैलास यात्रा' में, सहजानन्द जी के स्तवन आदि में स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। आचारांग निर्युक्ति में लिखा है कि—

अट्ठावय मुज्जिते गयग्गपद धम्मचक्के।
 पासरहा वत्तनगं चमरूप्पायं च वंदामि ॥

तिलोयपण्णति की गाथा ११८६ में लिखा है ऋषभ देव माघ कृष्णा चतुर्दशी पूर्वान्ह में अपने जन्म नक्षत्र (उत्तराषाढा) के रहते कैलाश पर्वत से १०,००० मुनियों के साथ मोंक्ष को प्राप्त हुए। हरिवंश पुराण (जिनसेन) और महापुराण (पुष्पदंत) में वर्णित है कि जब ऋषभदेव की आयु के चौदह दिन शेष रह गये तब वे कैलाश पर्वत पर पहुंचे। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति स्टीक पूर्व भाग १५८। १ पृष्ठ में उल्लेख है कि भरत ने ऋषभदेव भगवान की चिता भूमि पर अष्टापद पर्वत की चोटी पर स्तूप का निर्माण कराया। “चेइअ थूभे करेह”

विविध तीर्थ कल्प के अन्तर्गत अष्टापद गिरि कल्प में ऋषभदेव के अष्टापद पर निर्वाण का विस्तृत रूप से उल्लेख करके अष्टापद की महिमा के विषय में बताया गया है। जो इस प्रकार है।

अष्टापद—स्वर्ण के समान देह की कान्ति वाले भवरूपी हस्ती के लिये अष्टापद के समान श्री ऋषभदेव को नमस्कार करके अष्टापद गिरि का कल्प संक्षेप से कहता हूँ।

इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप में दक्षिण भरतार्द्ध में भारतवर्ष में नौ योजन चौड़ी और बारह योजन लंबी अयोध्या नामक नगरी है। यही श्री ऋषभ-अजित-अभिनन्दन-सुमति-अनंतादि जिनेश्वरों की जन्मभूमि है। इस के उत्तर दिशा में बारह योजन पर अष्टापद नामक कैलाश अपर नाम वाला रम्य गिरिश्रेष्ठ, आठ योजन ऊंचा, स्वच्छ स्फटिक शिलामय है। इसी से लोगों में धवल गिरि नाम भी प्रसिद्ध है। आज भी अयोध्या के निकटवर्ती उडुयकूट पर्वत पर स्थित होने पर आकाश निर्मल हो तो

उसकी धवल शिखर पंक्तियाँ दिखती हैं। फिर वह महासरोवर, घने सरस वृक्ष, पानी के पूर वाले झरनों से युक्त, परिपार्श्व में संचरण करते जलधर, मत्त मोर आदि पक्षियों के कोलाहल युक्त, किन्नर-विद्याधर रमणियों से रमणीक, चैत्यों को वंदन करने के लिये आने वाले चारण-श्रमणादि लोगों के दर्शनमात्र से भूख प्यास हरण करने वाला, निकटवर्ती मानससरोवर विराजित है। इसकी उपत्यका में साकेतवासी लोग नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हैं।

इसी के शिखर पर ऋषभदेव स्वामी चतुर्दश भक्त से पर्यकासन स्थित, दस हजार अणुगारों के साथ माघ कृष्ण त्रयोदशी के दिन अभिजित नक्षत्र में पूर्वाह्न में निर्वाण प्राप्त हुए। शक्रादि ने वहाँ स्वामी का देह-संस्कार किया। पूर्व दिशा में स्वामी की चिता, दक्षिण दिशा में इक्ष्वाकुवंशियों की और पश्चिम दिशा में शेष साधुओं की थी। उन तीन चितास्थानों पर देवों ने तीन स्तूप निर्मित किये। भरत चक्रवर्ती ने स्वामी के संस्कार के निकटवर्ती भूतल पर एक योजन लंबा, आधा योजन चौड़ा, तीन कोस ऊँचा सिंह निषद्या नामक प्रासाद रत्नोपल-वार्द्धिकि रत्न के द्वारा बनवाया। उसके स्फटिक रत्नमय चार द्वार हैं। उभय पक्ष में सोलह रत्न चंदन कलश हैं। प्रत्येक द्वार पर सोलह रत्नमय तोरण है। द्वार-द्वार पर सोलह अष्टमंगल हैं। उन द्वारों में चार विशाल मुख्य मण्डप हैं। उन मुख्य मण्डपों के आगे चार प्रेक्षामण्डप हैं। प्रत्येक अखाड़े के बीच में रत्नसिंहासन हैं। प्रत्येक प्रेक्षा-मण्डप के आगे मणिपीठिकाएँ हैं। उनके ऊपर रत्नमय चैत्य-स्तूप हैं। उन चैत्यस्तूपों के आगे प्रत्येक के प्रतिदिशा में बड़ी विशाल पूजा-मणि पीठिका हैं। उन प्रत्येक के ऊपर चैत्य वृक्ष है। चैत्य स्तूप के सम्मुख पाँच सौ धनुष प्रमाण वाली सर्वांग रत्न निर्मित ऋषभ वर्द्धमान-चन्द्रानन-वारिषेण नामक पर्यकासन विराजित मनोहर शाश्वत जिनप्रतिमाएँ नन्दीश्वर द्वीप चैत्य मध्य स्थित की भाँति हैं। उन चैत्य-स्तूपों के आगे प्रत्येक चैत्य-पादप हैं। उन चैत्य-

वृक्षों के आगे मणिपीठिकाएँ हैं। उन प्रत्येक के ऊपर इन्द्र-ध्वजाओं के आगे तोरण और सोपान युक्त, स्वच्छ शीतल जल से पूर्ण, विचित्र कमल शालिनी, मनोहर दधि मुखाधार पुष्करिणी के सदृश्य नन्दा पुष्करिणी है। सिंह-निषद्या महाचैत्य के मध्य भाग में विशाल मणिपीठिका है। उनके ऊपर चित्र रत्नमय देवच्छंदक है। उसके ऊपर नाना वर्ण के सुगम उल्लोच हैं। उल्लोचों के अन्तर पार्श्व में वज्रमय अंकुश हैं। उन अंकुशों से अवलम्बित घड़े में आने योग्य आँवले जैसे प्रमाण के मुक्ताओं के हार हैं। हार-पंक्तियों में विमल मणिमालिकाएँ हैं। मणिमालिकाओं के नीचे वज्रमालिकाएँ हैं। चैत्य भित्ति में विचित्र मणिमय गवाक्ष हैं, जिनमें जलते हुए अगर धूप समूह की मालिकाएँ हैं।

उस देवच्छंदक में रत्नमय ऋषिभादि चौबीस जिनप्रतिमाएँ अपने-अपने संस्थान, प्रमाण और वर्ण वाली भरत चक्रवर्तीकारित हैं। उनमें सोलह प्रतिमाएँ ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, सुपार्श्व, शीतल, श्रेयांस, विमल, अनन्त, शान्ति, कुन्थु, अर, नमि और महावीर भगवान् की स्वर्णमय हैं। मुनिसुव्रत और नेमिनाथ की लाजवर्तमय हैं। चन्द्रप्रभ और सुविधिनाथ की स्फटिक रत्नमय हैं। मल्लि और पार्श्वनाथ की वैदूर्यमय हैं। पद्म-प्रभ और वासुपूज्य भगवान् की पद्मरागमय हैं। उन सब प्रतिमाओं के लोहिताक्ष प्रतिषेक पूर्ण अंक रत्नमय नख हैं। नखपर्यन्त जावयर के जैसे लोहिताक्ष मणि रस का जो सिंचन किया जाता है उसे प्रतिषेक कहते हैं। नाभि, केशान्तभूमि, जिह्वा, तालु, श्रीवत्स, चुचुक, हाथ और पाँवों के तले तपनीय स्वर्णमय हैं। नयनपद्म, कनीनिकाएँ, मंशु, भौंहें, रोम और शिरके केश अरिष्ट-रत्नमय हैं। ओष्ठ विद्रुममय हैं, दन्त स्फटिकमय हैं, शीर्षघटिका वज्रमय हैं। अन्दर लोहिताक्ष प्रतिषेक वाली स्वर्णमय नाशिकाएँ हैं। लोहिताक्ष प्रतिषेक प्रान्त वाले अंकमय लोचन हैं। उन प्रतिमाओं के पृष्ठ भाग में प्रत्येक के एक-एक

मुक्ताप्रवाल जाल कंस कोरंट मल्ल दाम वाली, स्फटिक मणि-रत्न के दण्ड वाली, श्वेत छत्र के धारण करने वाली छत्रधर प्रतिमाएँ हैं। उनके दोनों ओर प्रत्येक उठाए हुए मणिचामरों वाली रत्नमयी चामर धारिणी प्रतिमाएँ हैं। प्रतिमाओं के आगे दो-दो नागप्रतिमाएँ, दो-दो यक्षप्रतिमाएँ, दो-दो भूतप्रतिमाएँ, दो-दो कुण्डधारिणी प्रतिमाएँ सर्वांगोज्ज्वल रत्नमयी कृताञ्जलि हो पर्युपासना करती हैं। तथा देवछंदा में चौबीस रत्न घण्टे, चौबीस माणिक्य दर्पण और वैसे ही स्वर्णमयी स्थान स्थित दीपिकाएँ हैं तथा रत्नकरण्डक पुष्प चंगेरियां लोहमस्तपट्टलिकाएं आभरणकरण्डक कनकमय हैं। धूपदहनक, आरतियाँ, रत्नमय मंगलदीप, रत्नमय भृंगार, रत्नमय स्थाल, सोने के प्रतिग्रह, रत्नचन्दन के कलश, रत्नमय सिंहासन, रत्नमय अष्टमंडल, स्वर्णमय तेल के डब्बे, कनकमय धूपभाण्ड और स्वर्णमय कमलहस्तक हैं। ये सब प्रत्येक प्रतिमा के आगे होते हैं। वह चैत्य चन्द्रकान्त साल से शोभित है। ईहामृग, वृषभ, मकर, तुरंगम, नर-किन्नर, विहग, बालग, रुरु, शरभ, चमरी, गज, वनलताओं से विचित्रित रत्नस्तम्भों से समाकुल है। स्वर्ण के ध्वज-दण्डमण्डित पताका है। उपस्थित किकिणी शब्द से मुखर ऊपर पद्मराग कलश से विराजित और गोशीर्ष चन्दनरस के हस्तकों से लांछित है। विचित्र चेष्टाओं वाली, अधिष्ठित नितम्ब वाली माणिक्य की शालभंजिकाएँ, चन्दनरस से लिप्त कलशयुग से अलंकृत द्वारदेश के उभय पक्ष में शोभायमान हैं। तिरछी बाँध के लटकाई हुई धूपित-सुगन्धित सुन्दर मालाएँ, पंचवर्म कुसुम रचित गृहतल, कर्पूर, अगर, कस्तूरी, धूपधूप धारित अप्सरागण संकीर्ण, विद्याधरी-परिवृत, आगे-पीछे और पार्श्व में चारु चैत्य पादपों, मणिपीठिकाओं से विभूषित भरत की आज्ञा से यथाविधि वार्धकिरत्न के द्वारा निष्पादित है। वहीं दिव्य रत्न-शिलामय ९९ भाइयों की प्रतिमाएँ बनवायी।

सुश्रूषा करती हुई अपनी प्रतिमा भी बनवायी। चैत्य के बाहर भगवान ऋषभदेव स्वामी का एक स्तूप और ९९ भाइयों के स्तूप करवाए। मनुष्य लोग यहाँ आवागमन करके आशातना न करें इसलिये लोहयंत्रमय आरक्षक पुरुष बनवाए जिससे वह अगम्य हो गया। पर्वत की चोटियाँ भी दण्डरत्न से तोड़ दी, अतः वह गिरिराज अनारोहणीय हो गया। योजन-योजन के अन्तर से मेखलारूप आठ सीढियाँ-पदों द्वारा मनुष्यों के लिए अलंघ्य कर दिया। जिससे अष्टापद नाम प्रसिद्ध हो गया।

फिर काल-क्रम से चैत्यरक्षण के निमित्त सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों ने दण्डरत्न से पृथ्वी को खोदकर सहस्र योजन की परिखा की। दण्डरत्न से गंगातट को विदीर्ण कर जल से पूर्ण किया। तब गंगा को खाई में भरने से अष्टापदासन्न ग्राम नगर, पुरादि डूबने लगे। अतः उसे दण्ड-रत्न से निकालकर कुरु देश के बीच से, हस्तिनापुर के दक्षिण से, कौशलदेश के पश्चिम, प्रयाग से उत्तर, काशी देश से दक्षिण, वत्सदेश में दक्षिण से, मगध के उत्तर से नदी का मार्ग काटते हुए सगरादिष्ट जण्डुपुत्र भागीरथ कुमार ने पूर्वी समुद्र में उतार दिया। तब से गंगासागर तीर्थ हो गया।

इसी पर्वत पर ऋषभदेव स्वामी के आठ पौत्र, और बाहुबलि प्रमुख निनाणवें पुत्र भी स्वामी के साथ सिद्ध हुए। इस प्रकार एक सौ आठ उत्कृष्ट अवगाहना से एक समय में आश्चर्यभूत सिद्ध हुए।

श्री वर्द्धमान स्वामी ने स्वयं कहा कि जो मनुष्य इस पर्वत पर स्वशक्ति से चढ़कर चैत्यों की वन्दना करेगा वह इसी भव में मोक्ष प्राप्त होगा। यह सुनकर लब्धिनिधान भगवान गौतम स्वामी इस पर्वतश्रेष्ठ पर चढ़े। चैत्यों की वन्दना कर अशोक वृक्ष के नीचे वैश्रमण के आगे तप से कृश अंग का बखान करते हुए स्वयं उपचित शरीर वाले अन्यथा वादकारी हैं— ऐसे उसके विकल्प को निवारण करने के लिए पुण्डरीक अध्ययन

प्रणीत किया। पुष्ट देह वाला पुण्डरीक भावशुद्धि से सर्वार्थसिद्ध गया और दुर्बल शरीर वाला कण्डरीक सातवीं नरक गया। यह पुण्डरीक अध्ययन सामानिक देव वैश्रमण ने गौतम स्वामी के मुख से सुनकर अवधारित किया। वे ही तुंबवण सन्निवेश में धनगिरि की पत्नी सुनंदा के गर्भ में उत्पन्न होकर दश पूर्वधर श्री वज्र स्वामी हुए। अष्टापद से उतरते हुए गौतम स्वामी ने कौडिन्य दिन्न-सेवालि तापसों को पन्द्रह सौ तीन की संख्या में दीक्षित किया। उन्होंने जनपरम्परा से इस तीर्थ के चैत्यों की वंदना करने वाला इसी भव में मोक्ष प्राप्त करेगा— ऐसे वीर-वचनों को सुनकर प्रथम, दूसरी और तीसरी मेखला संख्यानुसार कौडिन्यादि चढ़े और इससे आगे जाने में असमर्थ थे। उन्होंने गौतम स्वामी को अप्रतिहत उतरते देखकर विस्मित हो प्रतिबोध पाया और उनके पास दीक्षित हो गये।

इसी पर्वत पर भरत चक्रवर्ती आदि अनेक महर्षि कोटि सिद्ध हुए। वहीं सगर चक्रवर्ती के सुबुद्धि नामक महामात्य ने जन्हु आदि सगर के पुत्रों के समक्ष आदित्ययशा से लेकर पचास लाख कोटि सागरोपम काल में भरत महाराजा के वंश में समुद्भूत राजर्षियों को चित्रान्तर गण्डिका से सर्वार्थसिद्धगति और मोक्ष गए बतलाया।

इसी गिरिराज पर प्रवचन देव विनीत वीरमती ने चौबीस जिन-प्रतिमाओं के भाल-स्थल पर रत्नजटित स्वर्णतिलक चढ़ाए। उसके बाद तब धूसरी भव, युगलिया भव और देव भव प्राप्त कर दमयन्ती के भव में अन्धकार को दूर करने वाला भाल-स्थान में स्वाभाविक तिलक हुआ। इसी पर्वत पर बालि महर्षि कायोत्सर्ग करके स्थित थे। विमानस्खलन से कुपित रावण ने पूर्व वैर को स्मरण कर नीचे की भूमि खोदकर, उसमें प्रविष्ट होकर अपने वैरी सहित अष्टापद गिरि को उठाकर लवण समुद्र में फेंकने की बुद्धि से हजारों विद्याओं का स्मरण कर पर्वत को उठाया। उन राजर्षि ने अवधिज्ञान से यह जानकर चैत्य-रक्षा के

निमित्त पैर के अंगूठे से गिरि-शिखर को दबाया। तब इससे संकुचितगात्र दशानन मुंह से रुधिर वमन करते हुए चीखनें लगा। जिससे वह रावण नाम से प्रसिद्ध हुआ। जब दयालु महर्षि ने छोड़ा तो वह चरणों में गिरकर क्षमायाचना कर स्वस्थान गया।

यहीं लंकाधिपति ने जिनेश्वरदेव के समक्ष नाटक करते हुए दैवयोग से वीणा की ताँत टूटने पर नाट्य-भंग न हो इस विचार से अपनी भुजा की ताँत काट कर वीणा में जोड़ दिया। इस प्रकार वीणावादन और भक्ति-साहस से सन्तुष्ट धरणेन्द्र ने तीर्थ वन्दना के लिए आये हुए रावण को अमोघ विजयाशक्ति रूपकारिणी विद्या दी।

इसी पर्वत पर गौतम स्वामी ने सिंहनिषद्या चैत्य के दक्षिण द्वार से प्रवेश कर पहले संभवनाथ आदि चार प्रतिमाओं को वन्दन किया। फिर प्रदक्षिणा देते हुए पश्चिम द्वार से सुपार्श्वदि आठ तीर्थकरों को, फिर उत्तर द्वार से धर्मनाथादि दश को, फिर पूर्व द्वार से ऋषभदेव अजितनाथ जिनेश्वरद्वय को वन्दन किया।

यद्यपि यह तीर्थ अगम्य है फिर भी स्फटिक वन-गहन समर वालों से जो जल में प्रतिबिम्ब चैत्य के ध्वज-कलशादि देखता है वह भाव-विशुद्धि वाला भव्य जीव वहाँ ही पूजान्हवणादि करते हुए यात्रा का फल प्राप्त करता है, क्योंकि भावोचित्त फलप्राप्ति कही गयी है।

भरतेश्वर से निर्मापित प्रतिमायुक्त इस चैत्य-स्तूपों की जो वन्दन-पूजन करते हैं वे धन्य हैं, वे श्रीनिलय हैं।

(श्री जिनप्रभ सूरि द्वारा रचित एवं स्व. श्री भंवरलाल नाहटा द्वारा अनुवादित)

श्री जिनप्रभ सूरि ने अपनी कृति विविध तीर्थ कल्प (रचना-सन् १२३२ ई०) में संगृहीत अपने अष्टापद गिरि कल्प में अष्टापद का ही अपर नाम कैलाश बताया है पर साथ ही पौराणिक साहित्य के आधार से उसकी स्थिति अयोध्या नगरी से उत्तर दिशा में १२ योजन (१५० कि० मी०) की

दूरी पर बताई है जिसकी धवल शिखर पंक्तियाँ आज भी आकाश निर्मल होने पर अयोध्या के निकटवर्ती उड्डयकूट से दिखाई पड़ती है। इसके निकट ही मानसरोवर है जो परिपार्श्व में संचरण करते जलचर, मत्त मोर आदि पक्षियों के कोलाहल से युक्त है तथा इसकी उपत्यका में साकेतवासी लोग नाना प्रकार की क्रीड़ाएं करते हैं।

श्री धनेश्वर सूरि कृति शत्रुञ्जय महात्मय में भी अष्टापद का विवरण इस प्रकार मिलता है—

तीनों लोक के गुरु भगवान्, एक लाख पूर्व वर्ष तक व्रत का पालन करने के बाद अपना मोक्षकाल समीप में जानकर अष्टापद पर्वत पर गए। उस शुद्ध प्रदेश में दस हजार मुनियों के साथ जगदीश्वर भगवान् ने अनशन ग्रहण किया। गला भर आने से जिसके मुंह में से स्पष्ट शब्द नहीं निकल रहे हैं ऐसे उद्यानपति ने भरत के पास आकर के सब वृत्तान्त कह सुनाया। भरत भी इस प्रकार की अवस्था में आए हुए भगवान् के बारे में सुनकर बहुत दुःखी हुए और वाहन अथवा साथ में किसी आदमी को लिये बिना शीघ्र ही पैदल चल पड़े। पीछे आनेवाले लोगों को अपने से बहुत दूर रखकर, खूब आंसू बहाते हुए, कांटे आदि चुभने से होनेवाली पीड़ा को न गिनते हुए, शोकयुक्त तथा अपने ही जैसी अवस्था में पड़ी हुई स्त्रियों के साथ जिस तरह ऊंचे घर पर चढ़े उस तरह वह एकदम अष्टापद पर्वत पर चढ़ गए। वहां पर सभी इन्द्रियों के आस्रवों को रोककर पर्यकासन में बैठे हुए भगवान् को देखकर आंसुओं से व्याप्त आँखोंवाले भरत ने उन्हें प्रणाम किया। आसन कांपने से सभी इन्द्र भी वहां पर आए। शोक से अत्यन्त व्याकुल उन्होंने प्रदक्षिणा करके भगवान् को नमस्कार किया। इस अवसर्पिणी काल के सुषमा-दुःषमा नामके तीसरे आरे के उन्नानवे पखवाड़े बाकी रहने पर माघ

मास के कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन पूर्वाह्नकाल (सुबह से लेकर दोपहर तक का समय) में चन्द्र जब अभिजित नक्षत्र में आया तब पर्यकासन में बैठे हुए तथा स्थूल मन-वचन-काय के योग (प्रवृत्ति) का त्याग करनेवाले प्रभु ने सूक्ष्म काययोग द्वारा बादर मन-वचन-काय के योग का निरोध करके सूक्ष्मक्रिया नामका चौथा शुक्लध्यान प्राप्त किया। बाद में सूक्ष्मकाययोग का भी त्याग करके तथा उच्छिन्नक्रिया नामका चौथा शुक्लध्यान प्राप्त करके भगवान् लोक के अग्रभाग (सिद्धक्षेत्र) में जा पहुँचे। भगवान् के साथ जो बाहुबलि आदि मुनि थे उन्होंने भी विधिवत् शुक्लध्यान का अवलम्बन लेकर क्षणभर में मोक्षपद प्राप्त किया। इधर भरत ने भी चिताके पास की जमीन पर वर्द्धकी रत्न द्वारा भगवान् का एक प्रासाद बनवाया। तीन कोस ऊंचे और एक योजन विस्तृत उस मन्दिर में तोरणों से मनोहर ऐसे चार दरवाजे बनवाए। इन चारों दरवाजों के पास स्वर्ग मण्डप जैसे मण्डप तथा उनके भीतर पीठिका, देवच्छन्दिका तथा वेदिका का भी निर्माण किया गया। उसमें सुन्दर पीठिका के ऊपर कमलासन पर आसीन और आठ प्रातिहार्य सहित अरिहन्त भगवान् की रत्नमय शाश्वत चार प्रतिमाएं तथा देवच्छन्द के ऊपर अपनी अपनी ऊंचाई, लांछन (चिन्ह) और वर्णवाली चौबीस तीर्थकरों की मणि तथा रत्नों की मूर्तियां स्थापित की। उन प्रत्येक मूर्तियों के ऊपर तीन-तीन छत्र, दोनों ओर दो-दो चामर, आराधक यक्ष, किन्नर और ध्वजाएं भी स्थापित करने में आईं। इनके अतिरिक्त उन्होंने अपने पूर्वजों की, भाईयों की, दोनों बहनों की तथा भक्ति से विनम्र ऐसी अपनी भी प्रतिमा का निर्माण किया। चैत्य के चारों ओर चैत्यवृक्ष, कल्पवृक्ष, सरोवर कुएं, बावड़ियां और खूब ऊंचे मठ बनवाए। चैत्य के बाहर

मणि-रत्नों का भगवान् का उंचा स्तूप और उस स्तूप के आगे दूसरे भाईयों के स्तूप भी खड़े किये। भरतराजा की आज्ञा से इन स्तूपों के चारों ओर पृथ्वी पर विचरण करनेवाले अनेक प्राणियों द्वारा अभेद्य लोहपुरुष और अधिष्ठायक देव भी स्थापित किए गए।

सगर पुत्रों द्वारा अष्टापद पर जिनेश्वरों की पूजा का वर्णन करते हुए लिखा है . . . राजाओं द्वारा सेवित बलवान् सगर चक्रवर्ती भी मानों एकही नगर हो इस तरह छह खण्डवाले भरत क्षेत्र का पालन कर रहा था। उसके जह्नु आदि साठ हजार पुत्र हुए। वे सब अति-अद्भुत, तारुण्य एवं पुण्य से पूर्ण शरीरवाले तथा शस्त्र और शास्त्र के जानकार थे। एक दिन अपने पूर्वजों के तीर्थों में वन्दन करने के लिये उत्सुक वे अपने पिता के पास से जबरदस्ती आज्ञा लेकरके सेना और वाहनों के साथ चल पड़े। राजाकी आज्ञा से स्त्रीरत्न को छोड़कर बाकी के चक्र, दण्ड आदि तेरह रत्न, यक्ष, राजा और बहुत सी सेना उन्होंने अपने साथ में ली। एक एक योजन का क्रमशः प्रयाण करते हुए वे कुछ दिनों के बाद अद्भुत और ऊंचे अष्टापद पर्वत पर पहुंचे। वह पर्वत कल्पवृक्ष, चम्पक, अशोक, बरगद, पीपल, तमाल, गुलाब, देवदार, आम मौलसिरी आदि वृक्षों से व्याप्त था तथा वह मणि और रत्नों की कान्ति के प्रवाह से आकाश को चित्रित कर रहा था। ऐसे पर्वत को देखकरके मानों वह अपने पूर्वजों की कीर्तिरूपी वृक्ष का मूल हो—इस तरह वे मानने लगे। आठ पैड़ियों से उस पर चढ़कर उन्होंने हर्ष के साथ जगत्प्रभु के प्रासादों की तीन प्रदक्षिणाएं दी। उन प्रसादों में प्रवेश करके दक्षिण दिशा में आए हुए चार जिनेश्वर भगवानों

की, पश्चिम दिशा में हुए आठ जिनेन्द्र देवोंकी, उत्तर दिशा में आए हुए दस अरिहन्त प्रभु की तथा पूर्व दिशा में आए हुए दो जिन परमात्माओं की—इस प्रकार कुल चौबीस तीर्थकर भगवानों की उन सबने मन-वचन-काया की शुद्धि के साथ पुष्प, अक्षत एवं स्तुति द्वारा पूजा की।

इस सारे अष्टापद (कैलास) प्रकरण में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य जो सामने आया है वो है लौह निर्मित यन्त्रमय मानव की बात। आज जो यन्त्रमय मानव रोबोट बन रहे हैं उसका वर्णन १२वीं शताब्दी में हेमचन्द्राचार्य ने त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में कैलाश के सन्दर्भ में किया है ऋषभदेव के पुत्र प्रथम चक्रवर्ती सम्राट भरत ने अष्टापद पर मनुष्य लोग वहाँ आवागमन करके आशातना न करे इसलिये लोहयन्त्रमय आरक्षक पुरुष बनवाये।

आज हम अपने को सभ्य और सुसंस्कृत मानते हैं, वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रगतिशील समझते हैं। पर आज से हजारों वर्षों पहले का विज्ञान कितना विकसित था यह हमें साहित्य में वर्णित उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है। वनस्पति में जीव की अवधारणा, अणु और पुद्गल का स्वरूप और यन्त्रमय मानव का जैन साहित्य में वर्णन एक बहुत ही प्रामाणिक और महत्वपूर्ण दस्तावेज है। आज से पचास-पचपन वर्ष पूर्व इस विवरण को काल्पनिक और अतिशयोक्ति से भरा समझा जाता था। लेकिन आज यन्त्रमय मानव रोबोट के निर्माण ने उस यथार्थ को जिसे कल्पना समझते थे उसकी वास्तविकता को प्रमाणित कर दिया है। सूर्य रश्मियों को पकड़कर गौतम स्वामी का कैलास शिखर के आरोहण का अर्थ भी अगर देखे तो यह स्पष्ट होता है कि कैलास के लौह यन्त्र मय मानव सूर्य की किरणों से उर्जा प्राप्त कर अपना निर्धारित कार्य करते थे जिसको आज की भाषा में सोलर एनर्जी कहते हैं। यन्त्र मय मानव की अवधारणा का

महत्व समझकर स्वर्गीय गणेश जी ललवानी ने जैन कथानक पर अपनी किताब बरसात की एक रात में 'रोबोट या यन्त्र मय पुरुष' कथा में कैलास के सन्दर्भ में बड़ा ही जीवन्त वर्णन किया है। जिसके विषय में स्वर्गीय नेमीचन्द्र जी जैन ने लिखा है कि "अतीत में जो कलाशिल्प हमारे पास था उसकी प्रच्छन्न सूचना भी हमें सहज ही मिल जाती है।"

कथानक इस प्रकार है . . . बन्धुपुत्र प्लूटो जिओलॉजी का छात्र था। उसका ग्रीष्मकालीन कैम्प काश्मीर के लद्दाख और लेह अंचल में लगा था। मुझे पत्र भेजा। लिखा था चाहने पर मैं भी लद्दाख और लेह घूमकर आ सकता हूँ। अतः विलम्ब न कर मैं काश्मीर कि लिये रवाना हो गया।

यद्यपि मैं प्लूटो के साथ एक दो बार हिमालय के कुछ अंचलों में घूम आया हूँ किन्तु हाँ— मैं माउन्टेनियर नहीं था जबकि प्लूटो पक्का माउन्टेनियर था। वह माउन्टेनियरिंग का प्रशिक्षण लेकर कई अभियानों में सम्मिलित भी हुआ था।

काश्मीर जाने के पीछे तिब्बत जाने की इच्छा कितनी स्पष्ट या अस्पष्ट थी नहीं कह सकता फिर भी तिब्बत ने मुझे हमेशा आकृष्ट किया है। विशेषकर कैलाश मानस तो मुझे जाना ही था। इसका एक और भी कारण था— हेमचन्द्राचार्य का त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पढ़ते समय एक स्थान पर लौह-निर्मित यन्त्रमय पुरुष के वर्णन ने मेरी दृष्टि को आकर्षित किया था। यन्त्रमय पुरुष कैसा हो सकता है? कहीं आज का रोबोट तो नहीं है? यदि यह सत्य है तब तो यही सिद्ध होता है कि आचार्य हेमचन्द्र के समय अर्थात् ख्रिष्टीय बारहवीं शताब्दी में रोबोट-निर्माण की कला ज्ञात हो या नहीं उसकी कल्पना तो सर्वप्रथम एक भारतीय के मन में ही उत्पन्न हुई थी इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह भी क्या हमारे लिये कम गौरव की वस्तु है?

आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने जब निर्वाण प्राप्त किया था तब उनके सौ पुत्रों में भरत को छोड़कर निन्यानवे पुत्रों ने भी निर्वाण प्राप्त किया था। पिता ऋषभ एवं भाइयों की स्मृति में भरत चक्रवर्ती ने उनके निर्वाण-स्थल कैलाश पर्वत पर अपने पिता के लिये एक सिंहनिषद्या नामक विशाल चैत्य और स्तूप बनवाया एवं निन्यानवे भाइयों के लिये छोटे स्तूपों का निर्माण करवाया। निर्माण के पश्चात् मनुष्य लोक से आगत मनुष्यों द्वारा इसकी पवित्रता और मर्यादा का उल्लंघन न हो इसलिये दण्डरत्न के आघात से पर्वत को स्तम्भाकृति बनवाया और दीर्घ व्यवधान में आठ सोपानों की रचना की। इस अष्ट सोपानों के कारण ही पर्वत का नाम अष्टापद पड़ा। किन्तु वे मात्र इतनी व्यवस्था कर ही सन्तुष्ट नहीं हुए, वहाँ एक यन्त्रमय पुरुष को भी स्थापित किया ताकि मृत्युलोक का मानव इस पर आरोहण करने की चेष्टा करे तो वह उसे बाधा दे — रोके।

वर्तमान काल में कैलाश-शिखर पर आरोहण करने की चेष्टा किसी ने की यह मैंने नहीं सुना। सम्भवतः इसका कारण है इसकी पवित्रता। अतः कैलाश-शिखर पर चढ़ने से स्थानीय अधिवासियों पर कोई विपरीत प्रतिक्रिया हो सकती है इस भय से भी अभियान आरम्भ करने का साहस किसी ने नहीं किया। नहीं तो २२०२९ फुट ऊंचा पर्वत-श्रृंग तो कभी का अधिकृत हो गया होता। देख कहा हूँ महाराज भरत का निषेध आज भी बलवान है।

महावीर-शिष्य गणधर गौतम और विद्याधर एवं चारण मुनियों के अतिरिक्त और कोई कभी उस पर्वत पर चढ़ा है ऐसा उल्लेख जैन शास्त्रों में नहीं मिलता। विद्याधर और चारण मुनियों को आकाशगामिनी विद्या प्राप्त है इसलिये वे यत्र-तत्र स्वच्छन्द विचरण कर सकते हैं। किन्तु गौतम स्वामी योगबल से सूर्य की किरणों का अवलम्बन लेकर

इस पर्वत-शिखर पर चढ़े थे। सूर्य-रश्मियों का अवलम्बन लेकर आरोहण करने का तात्पर्य उस समय मैं ठीक से नहीं समझ सका था। कैलाश-पर्वत आदि तीर्थकर ऋषभ की निर्वाण भूमि के रूप में केवल जैनियों के लिये ही पवित्र नहीं है हिन्दुओं के लिये भी स्वयं देवाधिदेव महादेव की निवास भूमि रूप में यह पूज्य है। तिब्बती कैलाश को डेमछोक या धर्मपाल कहते हैं। डेमछोक कैलाश के अधिष्ठायक देवता हैं जो बाघचर्म पहने हैं, गले में नर-मुण्डों की माला है, एक हाथ में डमरु और दूसरे में त्रिशूल हैं। यह शिव का ही एक रूप है। शिखर के स्तर-स्तर पर जो चक्राकार रेखा खींची दिखाई पड़ती है वह चक्रवर्ती भरत के दण्ड रत्न के आघात के कारण है या जैसा हिन्दू लोग कहते हैं शिव-भक्त रावण के कैलाश-उत्पाटन की व्यर्थ चेष्टा की स्मृति का अवशेष है कह नहीं सकता। तिब्बतियों में भी एक ऐसी ही कहानी प्रचलित है। गोम्बो कोंग नामक एक व्यक्ति कैलाश उत्पाटन की चेष्टा करता है किन्तु तिब्बत के ही एक सिद्धयोगी के अभिशाप से वह पाषाण में रूपान्तरित हो जाता है।

लद्दाख आकर प्लूटो और उसके संगी-साथियों के साथ कुछ दिन खूब हँसी-मजाक में व्यतीत हुए। तदुपरान्त एक दिन अवसर पाकर मैंने उसे अपने प्लान की बात कही। उस योजना की बात सुनते ही वह उत्तेजित हो गया। उसे शान्त कर मैंने कहा इस प्लान की बात अभी तुम किसी से भी कहना मत कारण हमें इस अभियान को गुप्त रखना होगा। यदि बात फैल गयी तो तिब्बतीगण हमें चढ़ने ही नहीं देंगे इस पर्वत पर।

लद्दाख में जिस दिन कैम्प का अन्तिम दिन था उसी रात प्लूटो और मैं कैम्प त्याग कर तिब्बत की ओर बढ़े। उस समय तिब्बत चीन के अधिकार में नहीं था फिर भी यात्रा दुरुह तो थी ही। किन्तु उस

दुरुहता से डर जाने वाले हम दोनों ही नहीं थे। अतः तातारों के एक दल में सम्मिलित होकर गारटक होते हुए लाशा आए। लाशा से कैलाश जाना कठिन नहीं हुआ। तिब्बती तीर्थ-यात्रियों के वेश में हम मानस होते हुए कैलाश पहुंचे।

यद्यपि हमारा लक्ष्य कैलाश आरोहण था। फिर भी तीर्थ-यात्रियों की तरह ही कैलाश की परिक्रमा देकर उस अभियान को प्रारम्भ किया। हमारा पहला उद्देश्य था किसी की दृष्टि हम पर नहीं पड़े, दूसरा कहाँ से चढ़ना आसान होगा यह निरीक्षण करें।

कैलाश की परिक्रमा कुछ कदम चलने की या कुछ क्षणों की परिक्रमा नहीं है और न ही किसी मन्दिर के संकीर्ण परिसर में किसी प्रतिमा की परिक्रमा देना है। घोड़े की पीठ पर परिक्रमा देने से शायद दो दिनों में यह परिक्रमा पूर्ण हो जाती, किन्तु हमने तो तिब्बतियों की तरह पैदल चलकर ही परिक्रमा देने का निश्चय कर लिया था।

हमने जिस दिन परिक्रमा देना प्रारम्भ किया उसी दिन दो तिब्बतियों ने भी परिक्रमा देना शुरू किया। वे लोग तो दण्डवत् देते हुए परिक्रमा दे रहे थे। उनके शरीर पर भेड़ के रोएँ का जीर्ण-शीर्ण मलिन जोब्बा था, कमर पर बेल्ट-सा बँधा था। पैरों में प्रायः घुटनों तक तिब्बती पशम के जूते थे। दोनों हाथों की कुहनियां, पैरों के घुटने और छाती पर चमड़े जैसी पट्टियां बँधी थी। खड़े होने पर दोनों जुड़े हाथों को ललाट पर लगाकर कैलाश की ओर मुख कर प्रणाम करते थे। फिर लम्बे होकर राह पर चाहे पत्थर हो या बरफ स्वच्छन्दता से सीधे लेटकर साष्टांग दण्डवत् देते थे। दण्डवत् के समय हाथ जहाँ तक पहुँच सकता वहाँ अंगुलियों से एक रेखा खींचते फिर खड़े होकर उस रेखा तक चलते। पुनः हाथ उठाकर प्रणाम कर फिर वही साष्टांग प्रणिपात करते। इस प्रकार दस-बारह दिन लग सकते थे।

हमने स्वेच्छा से ही उनका संग किया कारण उनकी यह विलंबित परिक्रमा हमें बहुत अच्छी लगी। इसमें लक्ष्य-स्थान तक पहुँचने में कोई जल्दी नहीं रहती। अलस मन्थर गति से सब कुछ चलचित्र की भाँति देखते हुए चलना था। दण्डवत् के समय वे कुछ देखते थे या नहीं, नहीं जानता किन्तु हम तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से देखते हुए जा रहे थे। पथ कहीं ऊपर की ओर जाता, कहीं नीचे की ओर, कहीं जलधारा मिलती, कहीं शुष्क पाषाणी चट्टान। पत्थरों की दरारों में जमी हुई बर्फ भी मिली।

राह के आस-पास कितनी ही मणि-प्राचीरें थीं। स्तूपाकार पत्थर सजे हुए थे। कहीं-कहीं पत्थरों पर छेनी से काटकर 'ओम मणिपद्मे हूं' लिखा था।

एक-एक कर दिन व्यतीत होते गए। सुबह का सूर्य सिर पर आता फिर सन्ध्या के समय पश्चिम में गिरि श्रेणियों के पीछे अदृश्य हो जाता। प्रकाश जाऊँ-जाऊँ करके भी जाता नहीं, पहाड़ों के शिखर पर जैसे रुक जाता। पहाड़ों की भी क्या अद्भुत आकृतियां थीं। कहीं लगता आस-पास मन्दिरों की चूड़ाएँ हैं। कहीं लगता पंक्तिबद्ध तीर्थ-यात्रियों की शोभा यात्रा है जो कैलास-दर्शन से विमुग्ध होकर स्तब्ध हो गयी है।

क्रमशः रात्रि होती। गुम्फा निकट रहने पर गुम्फा में आश्रय लेते, नहीं तो तम्बू गाड़कर उसमें ही रात्रि व्यतीत कर देते। बाहर कड़ी सर्दी रहती। आकाश में अगणित नक्षत्र चमकते रहते। तिब्बत के धूलरहित आकाश में उनकी दीप्ति हीरक दीप्ति-सी उज्ज्वल लगती। कल रात डिरीफूक गुम्फा में रात्रि-यापन किया था। लोग जैसा कहते हैं वैसा ही पाया—डिरीफूक गुम्फा से कैलाश शिखर का दृश्य सर्वोत्तम है।

सन्ध्या समय मठ की छत पर चढ़कर हमने वह दृश्य देखा। यहाँ से कैलाश का व्यवधान दो मील है किन्तु सूक्ष्म आबहवा के कारण लगता जैसे हम हाथ बढ़ाकर उसका स्पर्श कर सकते हैं।

उस सर्वोत्तम दृश्य को एक बार देखकर हम तृप्त नहीं हुए अतः मैं और प्लूटो गहन-रात्रि में चांद उगने पर ज्योत्स्ना स्नात उस गिरि शिखर को देखने के लिये पुनः छत पर गए। कितनी अपूर्व थी तुषार शिखर की वह स्फटिक दीप्ति। हेमचन्द्राचार्य ने ठीक ही लिखा है—कैलाश-शिखर के स्फटिक मुकुर में विद्याधर नारियाँ अपना मुख देखती रहतीं। सचमुच ही देखा कि कैलाश के स्वच्छ तुषार-मुकुर में चन्द्र-किरणें प्रतिफलित हो रही थीं। तभी मेरी दृष्टि कैलाश शिखर के दोनों पार्श्व में प्रहरी की भाँति जो दो पाद शैल खड़े थे उन पर गयी। देखा—बार्यी ओर के पादशैल के बगल से एक हिमवाह बहुत दूर ऊपर तक फैल गया है मन ही मन सोचा—उस पथ से ऊपर जाने का प्रयास ही सर्वोत्तम होगा। प्लूटो को भी वह हिमवाह और पादशैल दिखलाया। वह भी मेरे विचारों से सहमत हो गया।

दूसरे दिन सुबह पुनः परिक्रमा प्रारम्भ हुई। तिब्बती यात्रियों के साथ पूर्व की ही भाँति हम कभी आगे होकर तो कभी पीछे होकर परिक्रमा देने लगे। तदुपरान्त मानों एकदम क्लान्त हो गए हों इस भाँति एक पत्थर पर निढाल होकर बैठ गया। प्लूटो भी मेरे ही समीप आ बैठा। साष्टांग दण्डवत् करने वाले तिब्बती तीर्थयात्री जब हमारी दृष्टि से ओझल हो गए हम उठे और हिमवाह की ओर अग्रसर होने लगे। मध्याह्न के पूर्व तक तो हम कुछ ही आगे बढ़ पाए। हमारी गति शिथिल हो गयी थी किन्तु उससे निरुत्साहित नहीं हुए। थोड़ा विश्राम और आहारादि कर हम पुनः अग्रसर होने लगे।

वह रात हिमवाह के निकट पहाड़ पर एक ऊंची समतल भूमि पर व्यतीत की। अभियात्रियों के तम्बू हमारे साथ थे। पर्वतारोहण के लिये

काँटेदार जूते, तुषार-कुठार, रस्सी आदि हमारी रूकस्याक में रखी हुई थी और साथ था सूखा खाद्य भी। विस्तृत आयोजन करना सम्भव नहीं था, बस, मानसिक बल ही हमारी शक्ति थी।

मुझे उस अंग्रेज अभियात्री व्हेलसन की कथा स्मरण होने लगी जिसने १९३४ में इसी भाँति एवरेस्ट पर चढ़ने के प्रयास में प्राण खो दिये थे। उसका अदम्य मनोबल हमें बार-बार उत्साहित करने लगा।

उस रात नींद ठीक से नहीं आयी। दुश्चिन्ता तो थी ही उस पर समस्त रात्रि अत्यन्त तेज हवा चलती रही। उसका शब्द पर्वत से टकराकर गम्भीर आवाज कर रहा था। लगता था मानों कहीं दूर कोई दुंदुभि बजा रहा है। फिर तम्बू के कनात पर से भी लगातार पट्-पट् की आवाज आ रही थी। शायद ओले गिर रहे थे।

किन्तु सुबह आकाश एकदम स्वच्छ था। हिमवाह से ही हमने पुनः अपनी यात्रा प्रारम्भ की पर कुछ दूर जाने के पश्चात् ही देखा बरफ की एक छोटी सी दीवाल हमारा पथ अवरुद्ध किए खड़ी है।

क्या करें सोच ही रहे थे कि कानों को बन्द करने पर एक री-री की आवाज आती है उसी प्रकार की एक आवाज कहीं से आती सुनाई पड़ी। वह आवाज कहां से आ रही है यह देखने के लिये इधर-उधर देखा किन्तु कुछ दिखलाई नहीं पड़ा।

प्लूटो ने कहा— आप यहीं ठहरिये, मैं देखूँ उस तुषारी दीवाल के बगल से ऊपर चढ़ा जा सकता है या नहीं। यदि रास्ता मिला तो आपको पुकार लूँगा। अतः मैं वहीं प्रतीक्षा करता रहा। थोड़ी देर में ही उसे दीवाल के पीछे अदृश्य होते देखा।

तत्पश्चात् उसे तुषारी दीवाल के ऊपर देखा। वह मुझे उसका अनुसरण करते हुए ऊपर आने को कह रहा था। थोड़ी देर के पश्चात् ही मैं भी उसके बगल में जा खड़ा हुआ और साथ-साथ ही आगे बढ़ने लगा किन्तु जितना ही हम अग्रसर होते वह री-री शब्द क्रमशः उतना ही तीव्र होने लगा। कुछ

और आगे बढ़ने पर पाया कि हमारी गति एकाएक अवरुद्ध हो गई है। मैं अवाक् विस्मित-सा चारों ओर देखने लगा। डिरीफूक गुम्फा से जिस पादशैल को देखा था यह वही शैल था किन्तु अब वह निर्जीव-सा नहीं लग रहा था। वह जैसे स्पन्दित हो रहा था और उनमें से एक विद्युत-तरंग ने प्रवाहित होकर हमें अदृश्य बन्धन में बाँध डाला था। अब उस री-री शब्द का कारण समझ में आया। वह पर्वत-श्रृंग नहीं, रोबोट था। वही रोबोट सूर्य-रश्मिजात विद्युत तरंग प्रवाहित कर हमें कैलाश-शिखर पर चढ़ने से रोक रहा था।

तो क्या हेमचन्द्राचार्य जिस लौह-निर्मित यन्त्रमय पुरुष की बात कह गए हैं यह वहीं यन्त्रमय पुरुष है? सूर्य-रश्मियों को पकड़कर गौतम-स्वामी के कैलाश-शिखर के आरोहण का तात्पर्य अब पूर्णतः समझ में आया। सूर्य-रश्मिजात इस विद्युत तरंग को प्रतिहत करने की अजस्र शक्ति उन्होंने अपने तपोबल से अर्जित कर ली थी।

मस्तिष्क की शिराएं-उपशिराएँ झनझनाने लगी। लगा जैसे वे फट जाएँगी। चिन्तन-शक्ति भी लुप्त सी होने लगी। चेतना शक्ति के पूर्ण लुप्त होने के पूर्व ही वहाँ से लौट जाने के लिए प्लूटो से कहा। बोला—अब और नहीं। बस यहीं से लौटो। जो कुछ जानना था जान चुके।

प्लूटो को स्थिति मुझ जैसी ही थी। यहाँ का तापमान जीरो सेन्टीग्रेड से भी नीचे था वहाँ हम पसीने से तर-बतर हो रहे थे। तभी जैसे अस्फुट स्वर में सुन सके—मनुष्य की सीमा यहीं तक है, इसके आगे नहीं।

उसके बाद कैसे हम वहाँ से लौटे कुछ याद नहीं। किन्तु पुनः जब परिक्रमा पथ पर पहुँचे देखा- वहाँ हमारे वे ही तिब्बती सहयात्री दण्डवत् करते हुए परिक्रमा दे रहे थे।

हमें देखकर वे विस्मित हो उठे। बोले—दो दिन तुम लोग कहाँ गायब हो गये थे? खोजते-खोजते नाकोंदम हो गया। फिर आज यहाँ कैसे आ पहुँचे? बोला— नहीं जानता, परन्तु तुम्हारे धर्मपाल ने हमारे मन की इच्छा पूर्ण कर दी है।

स्व. गणेश ललवानी द्वारा लिखित इस कथानक में लौह निर्मित यंत्रमय पुरुष का वर्णन आज के रोबट के रूप में बहुत ही रोमांचक ढंग से किया गया है।

श्री द्वीप विजय जी कृत अष्टापद पूजा के अन्तर्गत जलपूजा में अष्टापद की अवस्थिति के विषय में लिखा है —

जंबूना दक्षिण दरवाजेथी, वैताढ्य थी मध्यम भागे रे।

नयरी अयोध्या भरतजी जाणो, कहे गणधर महाभाग रे ॥

धन. ॥ ८

जंबूना उत्तर दरवाजेथी, वैताढ्य थी मध्यम भागे रे।

अयोध्या ऐरावतनी जाणो, कहे गणधर महाभाग रे ॥ धन. ॥ ९

बार योजन छे लांबी पहोली, नव योजन ने प्रमाण रे।

नयरी अयोध्या नजीक अष्टापद, बत्रीश कोश ऊँचाण रे ॥

धन. ॥ १०

जैन धर्म में सर्वोच्च स्थान तीर्थकरों का है जिनकी प्रतिमाओं की परम्परा जैन आगमों के अनुसार शाश्वत है। आदि भगवान ऋषभदेव के निर्वाण के बाद वहाँ स्तूप तथा सिंह निषधा पर्वत पर भरत चक्रवर्ती बनाये गये जिनालय में दो, चार, आठ, दस, कुल चौबीस के क्रम से प्रतिमाओं की स्थापना की गयी जिसका वर्णन सिद्धाणं, बुद्धाणं (सिद्ध स्तव) सूत्र में मिलता है।

चत्तारि अट्ट दस दोय, वंदिया जिणवरा चउव्वीसं।

परमट्टनिट्टिअट्टा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ५

इस प्रकार दक्षिण दिशा में चार, पश्चिम दिशा में आठ, उत्तर दिशा दस और पूर्व दिशा में दो— सब मिलाकर चौबीस जिन मूर्तियां हैं।

गौतम स्वामी की अष्टापद तीर्थयात्रा के सन्दर्भ में महोपाध्याय श्री विनय सागरजी ने गौतम रास परिशीलन की भूमिका में लिखा है— गौतम स्वामी की अष्टापद तीर्थ यात्रा का सबसे प्राचीन प्रमाण सर्वमान्य आप्तव्याख्याकार जैनागम साहित्य के मुर्धन्य विद्वान याकिनी महत्तरासूनु आचार्य हरिभद्र सूरि ‘भव विरह’ के उपदेश नामक ग्रन्थ की गाथा १४१ की स्वोपज्ञ टीका में वज्रस्वामी चरित्र के अन्तर्गत गौतम स्वामी कथानक में मिलता है। इसमें गौतम स्वामी के चरित्र की मुख्य घटनाओं में गागली प्रतिबोध, अष्टापद तीर्थ की यात्रा, चक्रवर्ती भरत कारित जिन चैत्य बिम्बों की स्तवना, वज्र स्वामी के जीव को प्रतिबोध और उन्हें सम्यग की प्राप्ति, अष्टापद पर १५०० तापसों को प्रतिबोध, महावीर का निर्वाण और गौतम को केवल ज्ञान की प्राप्ति एवं निर्वाण का वर्णन है।

गौतम स्वामी चरित्र के अन्तर्गत अष्टापद का उल्लेख (सं. १२५) अभयदेवसूरि के भगवती सूत्र की टीका (सं. ११२८) देवभद्राचार्य के महावीर चरियं (सं. ११३९) हेमचन्द्राचार्य के त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में मिलता है। महोपाध्याय विनयप्रभ रचित ‘गौतमरास’ में वर्णन है—

जउ अष्टापद सेल, वंदइ चढी चउवीस जिण।

आतम-लब्धिवसेण, चरम सरीरी सो य मुणि ॥

इय देसणा निसुणेह, गोयम गणहर संचरिय।

तापस पनर-सएण, तउ मुणि दीठउ आवतु ए ॥ २५

गणधर गौतम की जिज्ञासा थी कि— मैं चरम शरीरी हूँ या नहीं अर्थात् इसी मानव शरीर से, इसी भव में मैं निर्वाण पद प्राप्त करूँगा या नहीं ? महावीर ने उत्तर दिया— आत्मउपलब्धि और स्ववीर्यबल से अष्टापद पर्वत पर जाकर भरत चक्रवर्ती निर्मित चैत्य में विराजमान चौबीस तीर्थकरों की वन्दना जो मुनि करता है, वह चरम शरीरी है।

प्रभु की उक्त देशना सुनकर गौतम स्वामी अष्टापद तीर्थ की यात्रा करने के लिये चल पड़े। उस समय अष्टापद पर्वत पर आरोहण करने हेतु पहली, दूसरी और तीसरी सीढ़ियों पर क्रमशः पाँच सौ-पाँच सौ और पाँच सौ करके कुल पन्द्रह सौ तपस्वीगण अपनी-अपनी तपस्या के बल पर चढ़े हुए थे। उन्होंने गौतम स्वामी को आते देखा।

तप सोसिय निय अंग, अम्हां सगति न उपजइ ए,
किम चढसइ दिढकाय, गज जिम दीसइ गाजतउ ए ॥
गिरुअउ इणे अभिमान, तापस जो मन चितवइ ए,
तउ मुनि चढियउ वेग, आलंबवि दिनकर किरण ए ॥ २६

गौतम स्वामी को अष्टापद पर्वत पर चढ़ने के लिए प्रयत्नशील देखकर वे तापस मन में विचार करने लगे— यह अत्यन्त बलवान मानव जो मदमस्त हस्ति के समान झूमता हुआ आ रहा है, यह पर्वत पर कैसे चढ़ सकेगा? असम्भव है, लगता है कि उसका अपने बल पर सीमा से अधिक अभिमान है। अरे! हमने तो उग्रतर तपस्या करते हुए स्वयं के शरीरों को शोषित कर, अस्थि-पंजर मात्र बना रखा है, तथापि हम लोग तपस्या के बल पर क्रमशः एक, दो, तीन सीढ़ियों तक ही चढ़ पाये, आगे नहीं बढ़ पाये। तापसगण सोचते ही रहे और उनके देखते ही देखते

गौतम स्वामी सूर्य की किरणों के समान आत्मिक बलवीर्य का आलम्बन लेकर तत्क्षण ही आठों सीढ़ियाँ पार कर तीर्थ पर पहुँच गये।

कंचन मणि निष्फन्न, दण्ड-कलस ध्वज वड सहिय,
पेखवि परमाणंद, जिणहर भरहेसर महिय।
निय निय काय प्रमाण, चिहु दिसि संठिय जिणह बिम्ब,
पणमवि मन उल्लास, गोयम गणहर तिहां वसिय ॥ २७

अष्टापद पर्वत पर चक्रवर्ती भरत महाराज द्वारा महित पूजित जिन-मन्दिर मणिरत्नों से निर्मित था, दण्ड-कलश युक्त था, विशाल ध्वजा से शोभायमान था। मन्दिर के भीतर प्रत्येक तीर्थकर की देहमान के अनुसार २४ जिनेन्द्रों की रत्न मूर्तियाँ चारों दिशाओं में ४,८,१०,२ विराजमान थीं। मन्दिरस्थ जिन मूर्तियों के दर्शन कर गौतम स्वामी का हृदय उल्लास से सराबोर हो गया, हृदय परम आनन्द से खिल उठा। भक्ति-पूर्वक स्तवना की। सांयकाल हो जाने के कारण मन्दिर के बाहर शिला पर ही ध्यानावस्था में रात्रि व्यतीत की।

(गौतमरास परिशीलन — महोपाध्याय विनय सागरजी)

श्रीगौतमाष्टकम् में भी अष्टापद का विवरण इस प्रकार है—

अष्टापदाद्रौ गगने स्वशक्त्या, ययौ जिनानां पदवन्दनाय।
निशम्य तीर्थातिशयं सुरेभ्यः, स गौतमो यच्छतु वाञ्छतं मे ॥ ५

(गौतम रास परिशीलन)

जैन शास्त्रों में अष्टापद तप का वर्णन मिलता है . . .

आश्विनेऽष्टाहिकास्वेव यथाशक्ति तपःक्रमैः।

विधेयमष्ट वर्षाणि तप अष्टापदं परम् ॥

अष्टापद पर्वत पर चढ़ने का तप अष्टापद पावड़ी तप कहलाता है। इसमें आसोज सुद आठम से पूर्णिमा तक के आठ दिन को

एक अष्टाहिका (ओली) कहते हैं। उन दिनों में यथाशक्ति उपवासादि तप करना। पहली ओली में तीर्थकर के पास स्वर्णमय एक सीढ़ी बनवाकर रखना। तथा उसकी अष्टप्रकारी पूजा करना। इस तरह आठ वर्ष तक आठ सीढ़ियां स्थापित कर तप करना।

उद्यापन में बड़ी स्नात्र विधि से चौबीस-चौबीस पकवान, फल आदि रखना। इस तप को करने से दुर्लभ वस्तु की प्राप्त होती है। यह श्रावक को करने का आगाढ़ तप है। इसमें 'श्री अष्टापदतीर्थाय नमः' पद की बीस माला गिनना। स्वस्तिक आदि आठ-आठ करना।

दूसरी विधि : कार्तिक बदी अमावस्या से शुरू कर एकांतरे आठ उपवास करना। पारणे के दिन एकासना करना। इस प्रकार आठ वर्ष करना। उद्यापन में अष्टापद पूजा, घृतमय गिरि की रचना, स्वर्णमय आठ-आठ सीढ़ी वाली आठ निसरणी बनवाना। पकवान, तथा सर्व जाति के फल चौबीस-चौबीस रखना। दूसरी सब वस्तुएं आठ-आठ रखना।

(जैन प्रबोध में इस तप को 'अष्टापद ओली' भी कहा है— तप रत्नाकर)

अष्टापद का विवरण रविषेण के पद्मपुराण (तीर्थ वन्दन संग्रह) में भी मिलता है। गुर्जर फागु काव्य में कवि समर कृत अष्टापद फागु का परिचय प्रकाशित है जो ६४ गाथाओं की रचना है। पाटण के हेमचन्द्राचार्य ज्ञान भंडार में इसकी हस्तलिखित अप्रकाशित प्रति लिपि मौजूद है। श्री धर्मघोष सूरि द्वारा रचित अष्टापद महातीर्थ कल्प में अष्टापद पर्वत के महात्म्य का वर्णन किया गया है जो इस प्रकार है—

जो श्रेष्ठ धर्म, कीर्ति और विद्याओं के आनन्द के आश्रम भूत भगवान ऋषभ देव द्वारा पवित्रित है और देवेन्द्रों से वन्दित है ऐसे अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ १.

जहाँ आपदाएं नष्ट करने वाले अष्टापद आदि एक लाख दोषों को दूर करने वाले स्वर्ण की जैसी आभा वाले भगवान ऋषभदेव ने निर्वाण प्राप्त किया है उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ २. भगवान ऋषभदेव के बाहुबलि आदि ९९ पुत्र प्रवर मुनिगण जहाँ अजरामर पाये उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ ३.

जहाँ प्रभु के वियोग से भीरु दस हजार मुनिवर प्रभु के साथ ही अनशन करके मुक्त हुए उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ ४. जहाँ भगवान ऋषभदेव के साथ आठ पौत्र और ९९ पुत्र एक समय में मुक्त हुए उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ ५. तीन चिताओं के स्थान में जहाँ मूर्त रत्नत्रय की भाँति इन्द्र ने तीन स्तूपों की स्थापना की, उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ ६.

जहाँ भरत चक्रवर्ती ने सिद्धायतन के समान सिंहनिषद्या नामक चतुर्मुख चैत्य बनवाया, उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ ७. जहाँ एक योजन लम्बा और उससे आधा चौड़ा एवं तीन कोश ऊँचा चैत्य विराजमान है उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ ८.

जहाँ भरत ने भाइयों की प्रतिमाएँ, चौबीस तीर्थकरों की प्रतिमाएँ एवं अपनी भी प्रतिमा बनवायी, उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ ९.

जहाँ भरत ने अपने-अपने आकार और वर्ण वाले वर्तमान (चौबीसी) जिनेश्वरों के बिम्ब भरवाये उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ १०.

जहाँ ९९ प्रतिमाओं से युक्त भाइयों के स्तूप एवं अर्हन्त भगवान के स्तूप बनवाये उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ ११.

भरत द्वारा जहाँ मोहरूपी सिंह का नाश करने के हेतु अष्टापद सिंह की भाँति आठ योजना प्रमाण वाली आठ सौपान से सुशोभित है, उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ १२.

जहाँ भरत चक्रवर्ती आदि अनेको कोटि महर्षियों ने सिद्धि साधना की, वह अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ १३.

जहाँ सगर राजा के पुत्रों के आगे भरत महाराजा के वंशज महर्षियों के सर्वार्थ सिद्ध एवं मोक्ष प्राप्ति करने वालों का सुबुद्धि ने वर्णन किया, उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ १४.

जहाँ समुद्र के समान विशाल आशय वाले सगर राजा के पुत्रों ने गिरिराज के चारों ओर रक्षा के लिए परिखा-सागर खाई बनाई, उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ १५.

जहाँ लोग अपने पापों का प्रक्षालन करने के लिए ही मानों चारों ओर गंगा से आश्रित है और हमेशा चंचल लहरों से शोभायमान है उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ १६.

जहाँ जिनेश्वर भगवान को तिलक चढ़ाने से दमयन्ती ने अपने भालस्थल पर स्वाभाविक तिलक रूप अनुरूप कल प्राप्त किया, उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ १७.

जहाँ क्रोधपूर्वक उठकर समुद्र में फैंकने को प्रस्तुत रावण को चरणों से दबाकर बालि मुनि ने रुला दिया, उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ १८.

लंकेन्द्र रावण द्वारा जिन पूणोत्सव के समय अपनी भुजाओं की ताँत निकालकर वीणा बजाने से धरणेन्द्र के द्वारा अमोध विजया शक्ति उसे मिली उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ १९.

जहाँ चारों दिशाओं में, चार, आठ, दश और दो जिन प्रतिमाओं को गणधर (श्री गौतम स्वामी) भगवान ने वंदन किया उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ २०.

अपनी शक्ति से जो इस गिरि को वंदन करते हैं वे अचल उदय को प्राप्त करते हैं ऐसा भगवान महावीर ने वर्णन किया उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ २१.

प्रभु के कहे हुए पुण्डरीक अध्ययन को गौतम द्वारा पढ़ने से (बोध पाकर) तिर्यक जम्भिकदेव दशपूर्वी वज्र स्वामी हुए, उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ २२.

जहाँ जिनेश्वरों का स्तवन कर लौटते श्री गौतम स्वामी ने पन्द्रह सौ तापसों को दीक्षित किया उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ २३.

इस प्रकार अष्टापद पर्वत के समान अष्टापदमय चिरस्थायी महातीर्थ वर्णन किया गया है, उस अष्टापद गिरिराज की जय हो ॥ २४.

आचार्य जिनसेन ने अपने पुराण में अष्टापद को कैलाश के रूप में उल्लेख किया है। उन्होंने कैलाश में भगवान् ऋषभदेव के समवसरण का वर्णन किया है जहाँ सम्राट भरत उनके दर्शन को जा रहे हैं इसका वर्णन इस प्रकार है—

अनुगंगातटं देशान् विलंघय ससरिद्गिरीन् ।

कैलासशैलसान्निध्यं प्रापतच्चक्रिणो बलम् ॥ ११

कैलासाचलमभ्यर्णमथालोक्य रथांगभृत् ।

निवेश्य निकटे सैन्यं प्रययौ जिनमर्चितुम् ॥ १२

चक्रवर्ती की वह सेना गंगा नदी के किनारे-किनारे अनेक देश, नदी और पर्वतों को उल्लंघन करती हुई क्रम से कैलास पर्वत के समीप जा पहुँची ॥ ११

तदनन्तर चक्रवर्ती ने कैलाश पर्वत को समीप ही देखकर सेनाओं को वहीं पास में ठहरा दिया और स्वयं जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करने के लिये प्रस्थान किया ॥ १२

भरत फिर आवेश से आप्लुत होकर कहते हैं—

अहो परममाश्चर्यं तिरश्वामपि यद्गणैः ।

अनुयातं मुनिन्द्राणामज्ञातभयसंपदाम् ॥ ५५

सोऽयमष्टापदैर्जुष्टो मृगैरन्वर्थनामभिः ।

पुनरष्टापदख्यातिं पुरैति त्वदुपक्रमम् ॥ ५६

स्फुरन्मणितटोपान्तं तारकाचक्रमापतत् ।

न याति व्यक्तिमस्याद्रेस्तद्रोचिस्छन्नण्डलम् ॥ ५७

अहा, बड़ा आश्चर्य है कि पशुओं के समूह भी, जिन्हें वन के भय और शोभा का कुछ भी पता नहीं है ऐसे मुनियों के पीछे-पीछे फिर रहे हैं ॥ ५५

सार्थक नाम को धारण करने वाले अष्टापद नामके जीवों से सेवित हुआ यह पर्वत आपके चढ़ने के बाद अष्टापद नाम को प्राप्त होगा ॥ ५६

जिस पर अनेक मणि देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे इस पर्वत के किनारे के समीप आता हुआ नक्षत्रों का समूह उन मणियों की किरणों से अपना मण्डल तिरोहित हो जाने के प्रकटता को प्राप्त नहीं हो रहा है ॥ ५७

शुद्धस्फटिकसंकाशनिर्मलोदारविग्रहः ।

शुद्धत्मेव शिवायास्तु तवायमचलाधिपः ॥ ६४

किंचिच्चान्तरमुल्लंघय प्रसन्नेनान्तरात्मना ।

प्रत्यासन्नजिनास्थानं विदामास विदांवरः ॥ ६६

हे देव, जिसका उदार शरीर शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल है ऐसा यह पर्वतराज कैलास शुद्धात्मा की तरह आपका कल्याण करनेवाला हो ॥ ६४

विद्वानों में श्रेष्ठ भरत चक्रवर्ती प्रसन्न चित्त से कुछ ही आगे बढ़े थे कि उन्हें वहाँ समीप ही जिनेन्द्रदेवका समवसरण जान पड़ा ॥ ६६

सन् १८०६ में भूटान निवासी लामचीदास गोलालारे नामक व्यक्ति ने चीन, वर्मा, कामरूप एवं अष्टापद कैलाश की तीर्थ यात्रा की थी। जिनमें उन्हें १८ वर्ष लगे। उन्होंने अपनी यात्रा का वर्णन 'मेरी कैलास यात्रा' नामक पुस्तिका में किया है जो इस प्रकार है—

अथ श्री कैलाश पर्वतजी का पत्र लिख्यते। यात्रा निमित्त क्षत्री लामचीदास सूर्यवंशी गोलालारे जैनी दीक्षा समय के पूजक अथवा पंडित सो आगम पढ़ (बीच) ताने अनुसार विक्रम संवत् १८०६ हिन्द महान मुल्क ताकि ईशान दिशा हिमालय पर्वत के समीप भूटान देश में गिरमध्यनगरवासी सो ब्रह्मा, चीन की सैर के निमित्त अथवा दर्शन निमित्त यात्रा को चले। सो कठिन व्रत धर के कैलाश के दर्शनों की अभिलाषा करी क्योंकि पक्षी अपने पंखों के बल से निरंजनपुरी देखना चाहे सो वहां देखिये। आखिर अपनी यथाशक्ति से ऊंचा उड़ेगा तो मरण ही होगा। सो मैं तुच्छ बुद्धि धर्मयोग शुद्ध मन कर अपने गृह का मोह छोड़ अपने राजा बलवीर्य सिंह बोद्धमती सूर्यवंशी को छोड़ अथवा अपने भूटान देश गिरमध्यनगर महा सकलकुटुम्ब धर्म समीपी मित्रों को छोड़ प्रथम चल कोस १५० में कामरु देश और वामरु नगर तामें गये जहाँ जादू-मंत्र विद्या का प्रचलित जोर है तहां से चल पूर्व ओर ब्रह्मा मुल्क में किरीठमदेश कोसीनगर कोस ४०० चलके गये, तहां की स्त्रियाँ मुलम्मे का काम बहुत अच्छा करे है शरम हिजाब नाहीं। तहां से पूर्व ओर चले, ब्रह्मा मुल्क में मध्यप्रदेश कोस २०० आवा शहर में गये। इस मुल्क के बादशाह का तस्त इसी नगर में विराजे है। सकल देश और राजा बौद्धमती है, तहां से चल पूर्व ओर ब्रह्मा मुल्क में कपूरीदेश केशवनगर कोस ३५० गये, तहां सुगंधित असली अगर तगर कपूर कोइमा (भीमसेनीकपूर) बहुत है। (यो सुगंध और जगह १००) तोले में नहीं है और वहां के पहाड़ों में सोने रूपे की खानि है। तहां से चल पूर्व और इसी मुल्क में कोची न मुल्क की सीमापर व्हावल पहाड़ ताके घाटेपर हेवानगर कोस २५० गये ओर इस पहाड़ी पर बाहुबलीजी की प्रतिमा कायोत्सर्ग खड़े योग

बड़ी-बड़ी ऊंची जगह-जगह हैं सो यहाँ के बौद्धमती उनको बाहुबयी गुरु अवतार अपना जान कार्तिक बदी का बड़ा मेला जोड़कर पूजे हैं। उन प्रतिमाओं का एक हाथ उपदेशरूप उठा जानना, तहां से चल कोचीनमुल्क वीदमदेश, होवीनगर कोस ६०० गये। इस मुल्क का राजा इसी नगर में राज करे है और सकल मुल्क बौद्धमती है। . . . सो इन छहों चीन में आठ तरह के जैनी देखने में आय हैं खास चीन में तो तुनावारे जैनी हैं। कोरिया चीन में पातके हैं और घघेलवाल, वाधानारे जैनी हैं। तिब्बत चीन में सोहनावारे . . . फिर वहाँ से चल तिब्बत ही में दक्षिण दिशा की ओर कोस ८० गये वहां सुन्दर नानाबन तामें मानसरोवर तथा सुन्दरताल तिसमें तरह-तरह के पक्षी कलोलरूप चकवा चकवी महा मोह के भरे केल करे हैं, ताही वन में दाड़म अखरोट, अमरूद आलुबुखारा अथवा सकल सुगंध भरे फूल होय हैं, मानसरोवर में महा सुन्दर कमल खिल रहे हैं सो उस बन के किनारे पर सिलवन नगर है, ताफा कोट कोस १६ का हैना बाजार कोस दो दो के जानने, उस नगर जैनी जैन पन्थी बसे हैं, तहाँ हम एक वर्ष रहे। और हम दीक्षा समय के पूजक उनके आगम सुन ग्यारह प्रतिमा के धारी भये . . . सो एक सुहावना थल मानसरोवर की उत्तर की ओर पड़ा है। तहाँ कभी पवनंज जयकुमार, हनुमान के पिता अपने नगर से चल रावण की मदद को लंका जाती बार उस स्थल पर डेरा कर रहे थे। सो यह बात वहाँ के मनुष्य हमसों कहते थे। अब उस वन में जीवों का बहुत भय है, सो पंचमकाल है, हमने जान बेच दर्शन किये थे और वह तीनों अटाई को ५५ चैत्यालय का बहुत मेला भरे है, परन्तु जीव का भय रहे है। तहां से चल चीन की सीमा मांहे दक्षिण दिशाकी ओर हनुवर देश में दस पन्द्रह कोस पर

हमको कई पंथियों के तथा बीसपंथियों के बहुत नगर मंदिर आये। सो हमको सब रोकते भये-तुम आगे कहां जाओ हो, आगे जाने का ठिकाना नहीं हैं, बनबेलें बहुत खड़ी हैं वन उद्यान पड़े हैं, पहाड़ों में रास्ता नहीं पावे है, कैलाश के दर्शन कठिन हैं, मनुष्य का जाना इस समय दुर्लभ है, सो तुम मत जाओ, पर हमने किसी की एक न मानी . . . वह वन कैलास की दक्षिण की ओर तले तले पूर्व पश्चिम लम्बा कोस ६००, उत्तर दक्षिण चौड़ा कहीं २० कोस, कहीं ४० कोस, कहीं ८० कोस जानने और वह हनुवरदेश नगर राजा प्रजा सब जैन जानने, वहां के श्रावक राजा सूर्यवंशी चन्द्रवंशी क्षत्री हैं, जैन के मंदिर उस देश में लाखों है। घर इस नगर में १५०० हैं सो कोई दो उज कोई ३ गज का ऊंचा खाली शिखर है, चौक द्वारा नहीं है और कोई मंदिर उनमें महादीरघ शिखरबन्द बिराजे वेदी, रत्नजड़ित हैं मंदिर महाननोज्ञ हैं, बिम्ब शुद्ध विराजे हैं—वेदी सुवर्ण रत्नमई है चौदह मणि रत्न लाल रत्न ये चार पाईये हैं। उस देश के मनुष्य उस वनके जीवों से भयवान रहे हैं। सकल नगरों के कोट हैं सो एक पहरदिन से नगरों के द्वार भिड़ जाय हैं, और उस देश के अथवा नगर के श्रावक हमको देख सब रोकते भये यो बनमें मत जाव, कदाचित् मर जाव और कहने लगे तुम क्यों बावरे भये हो इस वन में कोई जीव सिंह, सार्दूल तुमको भख जायगा तातें हमको कैलाशजो दर्शन १२ मास यहां ही ते होय हैं, सो तुम प्रभात के समय करना, क्योंकि यहां तें ४० कोस तक तो वन है, आगे योग १ सागरगंग दरिया है और ३२ कोस ऊंचा कैलाश है, सो इस ऊँचाई पर कुछ दूर नहीं है, कैलाश के दर्शन तो सौ सौ कोसतें होय हैं यहां तो कभी कभी मंदिरों के चिन्ह भी हिममे दबे हैं सो जब हिम ग्रीष्मऋतु में खिरे है, तब दिखाई

दे हैं, सो तुम दर्शन यहां ही से करो आगे मत जावोसो हमने एक न मानी, तब श्रावक चुप हो रहे। हम दर्शनों की अभिलाषा के वश होय नाहर के मुख हाथ घाल विगत प्राण देने से बेडर हो मूढमति विचारी, यो न जानां कि आगे सागरगंग नाला है। चार कोस गहरा चौड़ा जहाँ घाटका निशान नहीं किस विधि उतरेंगे। आगे कोस ३२ ऊंचा गिर फिर पर्वत की आठ पैडी एक-एक योजन की ऊंची सौ किस विधि चढ़ेगे, परन्तु अपना मरण मान दर्शनयोग वहां से चल सहज-सहज मारग प्रभू की अतिशय से उस बन के पार भये। आगे सगरगंग नालापर जाय वीतराग भाग धर खड़े जोगध्यानधर इस विधि आंखड़ी लई कि जब लों कैलाश के दर्शन नहीं होंगे तबलग आहार, पानी त्याग और सन्यासमरण यहां ही करुंगा और कदाचित् दर्शन हो भी जाय तो और २३ महाराजकी निर्वाण भूमि के दर्शनकर वस्त्र दूर करुंगा, मुनिव्रत धारुंगा, परिषह सहूंगा कदाचित् न टरुंगा, वस्त्रत्याग शीतघाम सहूंगा। इस तपस्या में आहार पानी के त्यागने से दिन ४ भये तब एक व्यंतर कहा दयावान मनुष्य का रूपधर हमसे कहता भया, तुम कौन हो? तब हम कहीं प्रभु के पायक हैं। कैलाश के दर्शन करेंगे तब वह व्यंतर बोला, हे मूर्ख तू बावला है कैलाश के दर्शन कैसे करेगा? जा, यहां से कैलाश के दर्शन नहीं होंगे। तब हम फेर कही हे महाराज तुम कौन हो? जो हमको क्रूर भये हमको बावला कह धक्का देओ हो, और डराओ हो सो मैं बावला नहीं हूं। तुम जो हमको भगवान के दर्शनको मना करो तुम हीनधर्मी हो। तब व्यंतर फिर बोला, हे भाई तू अजान है यह सगरगंग है ४ कोस गहरा है। चौड़ा नाला है, आगे ३२ कोस ऊंचा गिरि है। तुमको दर्शन कैसे होंगे? तब हम कहीं हो सो तुम जाओ बोलो नहीं फिर उन

हमको तपस्वी जान दयाभावकर कहा तू आंखमींच तब हमने आंख ढापी (मींची) तब हमको कैलाश पर्वतपर ले जाय सकल दर्शन कराये, पहर दोय में हमको उसी जगह छोड़ गया और दर्शन के वक्त वह व्यंतर सकल भेदवस्तु बतावता भया। मंदिरों की उत्पत्ति टोंक अथवा मेवा, वनस्पति, धातों की खान, मुनोंकी निर्वाण भूमि, प्रतिमाओं आकार सकल भेद कहां, सो हमको जब वह उसी जगह पर छोड़ गया तब हम पूंछी महाराज कौन हो उन कही मैं व्यंतर हूँ, खबरदार! किसीसे कहना नहीं-इतना कह रम गया। सो कैलाश के दर्शन हमने किये, अच्छी तरह किये, मन आनन्द भयो भव्य दर्शन करो, अष्टकर्म-बंध छूट जायेंगे निश्चित जानने। सो दर्शन हमने ऐसे किये, प्रथम तो ऋषभदेव का टोंक बन्दा सो सुवर्ण मई जड़ाऊ जोग बन रहा है, महामनोज्ञ है, गुम्मजदार है, टोंकमें चरण बन रहे हैं, महा सुन्दर हैं, दिव्य उद्योत को करें है श्वेतवर्ण रत्नमई गुम्बजकी चोटी है। सो टोंक दक्षिण दिशाकी ओर सोने की खानिपर है ८०० धनुष ऊंचा टोंक विराजे है, महिमा वरणी जाती नाही। सो टोंक भरतजी का बनाया देवाराधित मरम्मत रहे हैं। फिर वहां से चल ७२ मंदिर बंदे सुवर्ण मई, रूपामई, और तांबामई धतुमई बंद उनमें एक मंदिर भरतजी का बनाया रत्नमऊ जड़ाई है, ऊंचा १००० धनुष मंदिर ६०० धनुष का, गुम्बज २०० धनुषकी, चूलका १०० धनुषकी, कलश रत्न जड़े महासुन्दर हैं, तहां तीन तीन चौवीसी की ७२ प्रतिमा अतीत अनागत वर्तमान, काय यथायोग्य संयुक्त जैसा उनका शरीर तैसे ही धनुषकी प्रतिमा रत्नमई देवाराधित दिव्य उद्योत को धरे बिराजमान हैं सो जैसे कायका रंग तैसे ही रत्नों की प्रतिमा विराजे हैं। महासुन्दर हैं, तिनको बारम्बार मेरा नमस्कार हैं। इस मंदिर में

८४ जातिके रत्न जड़े हैं प्रतिमा पद्मासन हैं और वे ७२ मंदिर और बनाये अथवा भरत ने बनाये अथवा भरत के पुत्रों ने बनाये प्रतिमा रत्नमई, सुवर्णमई धातुमई पाषाणमई बहत्तर जाननी सो उन ७१ मंदिरों में से ३ मंदिर सुवर्णमई, १० रूपमई और ३६ मंदिर तांवामई २२ मंदिर धातुमई सब मंदिरोंपर देवाराधित मरम्मत रहे हैं, सो हमने दर्शन या विधि मनवचनकाय से किये फिर मुनों की निर्वाण भूमि बंदों सो कैलाशगिरि के ऐसे चित्र देख आया हूँ। उत्तर दिशा को रूपे की खानि है, पश्चिम दिशा में पाषाण की खानि हैं, दक्षिण दिशा की ओर सोने की खानि है, पूर्व दिशा की ओर तांबे की खानि है, अथवा और जंगलों में कई धातु की खानि है चारों दिशाओं में एक एक योजना के आठ सिवान है। सो गिरिका नाम अष्टापद भी है, गिरिका चक्र योजना चालन की परिक्रमा है महासुन्दर है। तहां बनबेल प्रज्वलित ऊपर बहुत खड़ा है, सो हिम का कारण गिरि की कटनियों में है। सकल मंडलों में महादीरघ है, नन्दनबन समान महासुन्दर है, उद्योतरूप है, बीच में तालाब है, जल अगम्य है, क्षीर समान है। कमल फूल रहे हैं परन्तु हिम आच्छादित है, कटनी भीतर चकवा चकवी हंस सारस अनेक पक्षी कलोल करें हैं, सकल मेवा वानरचली सुगंध भरी फल फूल रही है, सकल जाति के पुष्प छहों ऋतु के खिले हुए अति सुगंध भरे सोहे हैं और आठ प्रकार के व्यंतर दर्शन के निमित्त आवे हैं, मंदिरों में रहें हैं। सो कैलाशगिरि पर्वत मेरुगिरि के समान हैं, देव रमणीक क्षेत्र है, नीके जानने, पूर्ण ज्योति है, महा उद्योत है और जो मंदिरजी प्रतिमा टोंक पर्वत की महामहिम देख आया हूँ, सो वर्णन नहीं कर सकता हूँ, क्योंकि जो दर्शन मैं वहां कर आया था वह ज्ञान यहां नहीं रहा। सो कैलाश की

महिमा कौन कर सके, कैलासकी चोटी बीच में ८ योजन ऊँची है सम भूमिते है। सो किनारों पर है, जड़ में जीवों की बधवारी बहुत है। सार्दूल अष्टापदसिंह और मृगादिक केहरी रीछ और चीता, सूमना डांकल, विकराल, अजदहा, दीरघ बिच्छू और बहुत जीव भयंकर रूप के जहर के भरे हुए वहां तले बहुत तिप्टें हैं विचरे हैं। कई जाति की वहां मणिभी पाइये हैं। चिन्तामणि, पद्मरागमणि, लालमणि, सर्पमणि, सर्पसंयुक्त रहे हैं, उस पर्वत पर चौथे काल समान समय रहे है। आदीश्वर के समयसे आजलों महा रमणीक क्षेत्र है, परन्तु हिमसे आच्छादित है। दर्शन कठिन है संहन नहीं, एकसा समय बीते है, बीतेगी, प्रलय के समय गिर जायेगी। से मैं उस नाले ऊपर से चल उसी मारग आया था उसी मारग होय एक पद भैरव रागनी में बनाया। दर्शनों का फल सकल जैनियों को लिखवाता हुआ अथवा याद करावाता हुआ वर्ष १८ माहिं अपने देश आये। वर्ष १ में धर्मशालाओं में ठहरे सो अपनी पहली आखिरी याद कर जो तुमने सगरगंग नाले पर आखिरी लई थी, कि जो दर्शन हो जायेंगे तो हम २३ भगवान की निर्वाणभूमि के दर्शनकर वस्त्र दूर करेंगे सो अब कीजिये। सो हम अपने देश से चल प्रथम तो शिखरजीके दर्शन करते हुए चम्पापुर, पावापुर, राजगृही, कजलीवन, रेवातट और सब जगह दर्शन करते हुए पश्चिमी दिशा की चले प्रथम सोनागिरि, मक्शीपार्श्वनाथ, आवुगिरि विन्ध्याचलवन, बड़वानीजी, सतपुरी गिरि मांगीतुंगी जी साद्रिगिरि, गजपंथाजी, गिरनारजी वंदे, फिर वहां से दक्षिण और भावन गर फिर गोमटस्वामी तिलंगदेश द्राविडदेशे कर्नाटक देश के चैत्यालय बंदे। तहांसे चल दक्षिणदेश होते हुए नैऋत्य कोन की ओर फिर जैनबद्री नगर में जाय अपनी यात्रा का समुच्चय कथन १०४ पत्र लिखाय बड़े बड़े देश में

भिजवा दिये। जैसे कौशल देश, कुरजांगल देश। सो सकल यात्रा वर्ष २२ लोंकरी। से इस यात्रा को श्रावक भविजन हो सो निश्चय जानो, इस भांति यात्रा करी है।

गिरि कैलाश के दर्शन कीजे जासो होय निस्ताराज ॥ टेक

भोटानदेश से चल रस्ते में जिनमत अधिक आपाराजी।

तरह की आम्नाय देखी बिम्ब रत्नमई सिंहाराजी ॥ १

नौ हजार सत आठ चौरान कोस चले पग धाराजी।

गही भूमि पैरनसे यात्रा पहुँचे गंग ऊपराजी ॥ २

धरो ध्यान नहीं आहार आ खड़ी बीतगए दिन चाराजी।

एक व्यंतर ले गया हमको किया दरश पाय निर्वाराजी ॥ ३

प्रथम टोंक ऋषभको बन्दों सम्यक्ज्ञान चिताराजी।

फेर सुवर्णमई मंदिरबंदे बिम्ब रत्नमई राजेजी ॥ ४

ताकी महिमा वरणी न जाई नहीं बुद्धि भेद कहुं साराजी।

दोय पहर में वह व्यंतर ने छाँड़ो गंग किनाराजी ॥ ५

जिस रास्ते से गमन किया था उन रतों उलटानाजी।

वर्ष १८ में उल्टे फिर आयो देश मंझाराजी ॥ ६

वर्ष चार फिर हिन्दू महनमें दर्शन निर्वाण पधाराजी।

जैन मूलबद्री तक पहुँचे छाँड़ा मोह सुसाराजी ॥ ७

संवत् १८२८ साय भए नझ ब्रह्मधाराजी।

लामचीदास प्रभु दंडकवन में तुमरे नाम अधाराजी ॥ ८

नोट— ब्र० लामचीदासजी ने सवत् विक्रम १८२८ में दंडकदेश और इकवन में उत्तर ओर जाय वस्त्र त्यागे एक मुनिराय त्रिषणनाम तिन गुरुसे रक्षा ली, लोंचकर नगनमुद्रा धरि मुनिवत लेख खड़ा योग ध्यानकर मौन सहित प्राण त्यागे।

पत्र का नोट— श्रावक सर्वजनो संशय न करनी, श्रावक जो जाय सो अपनी सम्यक्त सो दर्शन करो, जाने में भ्रम न करना, जरूर दर्शन होएगें। शास्त्रजी में ऐसा कहा है कि अयोध्या जी से उत्तर की ओर कैलाशगिरि १६०० कोस है, सो सत्य है हम मारगका फेर खाते हुए प्रथम पूर्व ओर, उत्तर ओर, फिर पश्चिम ओर, फिर दक्षिण ओर ९८९४ कोसलों गये आये कैलास तिब्बत चीन के दक्षिण दिशा में हनवर देश में पर ले किनारे पर है। ताकी तलहटी में उत्तर की ओर धीधर बन जानना . . . सो चिट्ठी लिखित लामचीदास संवत् १८२८ मिति फागुण सुदी ५ रविवार को पूर्ण करो इति।

लामचीदास जी ने अपने इस लेख में चीन, वर्मा, के जिन मन्दिरों का वर्णन किया है जो जापानी विद्वान ओकाकुरा के उल्लेख से भी प्रमाणित होता है—

At one time in a single province of Loyang (China) there were more than three thousand monks and ten thousand Indian families to impress their national religion and art on Chinese soil.

Marcopolo ने भी लिखा हैं—

Chinese town Canton had a temple of five hundred idols with the dragon as their symbol.

उन्होंने बर्मा में बाहुबली की मूर्ति का वर्णन किया है जो आज भी वहाँ बाहुबली पगोड़ा के रूप में है। जिसके विषय में ऐतिहासकार फर्ग्यूसन ने लिखा है—

The Baubaugigi Pagoda in prome consist of a solid mass in brick work of cylindrical form about 80 ft high, raised on a triple base and surmounted by a finial carrying the Hti or umbrella. It is ascribed to the 7th and 8th century.

(History of Indian & Eastern Architecture. Pg. 342 of Vol II)

लामचीदास के अनुसार तिब्बत में भावरे और सोहना जाति के जैनी रहते थे। उन्होंने तेले की तपस्या कर यक्ष की सहायता से अष्टापद तीर्थ के दर्शन किये थे जिसके विवरण में उन्होंने बताया है कि ऋषभदेव के टोंक में चरण बने हुए हैं। इसकी पुष्टि स्वामी आनन्द भैरव गिरि जी द्वारा श्री किर्रीट भाई को लिखे पत्र में की है जिसमें उन्होंने अपनी कैलाश यात्रा के विषय में लिखा है जिसको हूबहू यहाँ दिया जा रहा है।

Dear Kiritbhai,

As you asked some question about Astapad, I am giving the information as you desired.

First thing, in Jain literature Kailas is called Astapad. In my views Kailas and Astapad is same.

Adinath Vrishabhadeva, the first Tirthankar of Jainism was said to have attained Nirvana at Kailas. It is said Adinath walked 8 steps in Astapad cave, where the foot-prints are there and now covered with 8 vedi (small) made by simple stones at 21000 ft. height. As such people try to go to this cave which is at Kailas mountain only. It is too risky and dangerous to go, very strenuous. Some time you are to climb mountain. Unless you know the spot it is not possible to recognize the cave. Very rare people go there. I believe hardly few people could reach there. Very beautiful cave and warm, no wind and snow inside the cave. Before sunset the sunrays directly entered in the cave. I was there for an hour between 5.30 P.M. to 6.30 P.M. (Indian time).

Since it is at so much of height, clear sunrays comes there in the evening time and darkness do not come, I think before 7.30 P.M. Some people can see the Astapad cave from Gengta gompa top since it is visible from there, but must be guided by the known people. I believe all Tibetan have not visited Astapad. I started at 6.00 o'clock (Indian time) from the Tarchen without any guide and taken oath "do or die", I must touch Kailas in this yatra. I reached at gengta gompa at 8 o'clock and meet two lamas over there. I approached lamas with folded hands for Astapad parikrama. The senior lama smiled and asked the junior lama to go alone with me.

They offered me Tibetan tea and then we started. The lama took my handbag wholeheartedly; I was free to walk. Due to deficiency of oxygen, I felt very tired. After crossing 2 peaks towards west, we reached Serulung gompa crossing the chhuksam chhu (river) which comes down to Tarchen. From Serulung gompa glorious vision of lord Kailas are open and I was to get senseless like. In Serulung gompa (very small 2 rooms only) one very old lama is there. I can not forget his holy hearted hospitality, though nothing was with him except Tibetan tea and frozen yak milk (called loseye). Only 15 mts. we were there and left for Astapad. On the right side is chhuksam chhu; in left is Ravan Parvat. Just opposite of Ravan Parvat big flagstaff (Mahadhawja) and Nyanri gompa. On the peak of

Ravan Parvat, a big beautiful Sivaling is there. It can be seen from some kms. distance. The area is fully covered with huge snow. While walking, I found 4 peacocks roaming (it is very big one) and after walking 1/2 kms. we found mountain colour musk deer (total no. approx 30 or so). Again after walking 1/2 km. at high trekking we found about 15-20 nos peacocks just about 50 ft. distance, after another 1/2 km 50/60 musk deer we found in snow colour. Thereafter no such events were visible. Now we started to climbing mountain in so many place. Too much cold, body shaking with great difficulties and with the help of holy lama, I came across the dangerous climbing and reached just below the ladder looks in Kailas where the heap of snow is stagnant. While crossing this stagnant snow range, a big about some tones snow piece came down with roaring sound. We escaped by the grace of Lord Kailas. Hereafter the entire route was climbing, tough and dangerous. We crossed it and reached Astapad cave. Very very very beautiful place. If there were no restriction of international boundary, I could have stayed there till the last day of my life. It has got a spiritual vibration, feelings. I can not express the same in writing.

In this year, I could not collect camera from anyone. As a result, I had to start without camera and I do not have a single photograph.

If there is any heaven, the Kailas is such, having a divine atmosphere.

Now you could realize the difficulties for what I am unable to send the valuable photographs of close Kailas and Astapad. I believe Lord does not desired that this glorious vision should go to anyone what he exposed before me. A huge number of hanging crystals rods are there which can not be touched. While coming back and crossed the Kailas peak and Parvati peak for down about 2 kms. Looking this big wall, I was afraid of as to how I shall get down. By the grace of the Lama I could get down in a heap of snow wall. It is only possible by the mountaineer with sufficient equipment, that too with blessings of Lord Kailas.

A good devotee can enjoy the blissful and beautiful vision of Lord Kailas at Astapad and it's surroundings. If there is any love, peace and truth in the world that is here. Materialistic life is nothing to this holy place. I am grateful to the Lama, who took me to there and he is nothing but Lord Shiva in disguise of Lama. Touching of Lord Kailas is the greatest assets in my human life. Now I have no other desires in life, because my realization, sense of thrilling vibrations is my final achievements in this Kailas yatra.

अष्टापद पर चढ़ना साधारण मनुष्य के लिये बहुत ही असम्भव है। अष्टापद कैलास को बहुत ही पुज्य और पवित्र माना गया है। इसकी

पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिये इस पर चढ़ने की कोशिश सामान्य आदमियों के लिये वर्जित है। इस विषय में Herbert Tichy का यह अनुभव दे रहे हैं जिसमें उन्होंने कैलाश पर चढ़ने का असफल प्रयास किया था और उनका क्या अनुभव रहा यह बताया है।

“Herbert Tichy during one of his travels in Tibet could not resist the temptation of climbing Kailas. All attempts by his sherpa Nima to deter him from undertaking such an attempt failed and he started climbing alone. It was a ‘lovely day’ according to him. Herbert Tichy in his book ‘Himalaya’ writes “I was still a long way from the summit when the clouds came up from the Valleys and enveloped me in an icy gray pall. Soon, I was being lashed by gigantic hailstorms, and unable to find a single hospitable rock behind which to shelter. I beat an ignominious retreat. Back at our camp Nima gave me a broad grin and positively enjoyed telling me that down at the camp there had not been a spot of rain the whole day indeed the earth was bone dry. Yet the mountain was still swathed in a great black cloud that was like a warning to stop frivolously desecrating the realms of God. That sacred mountain is no joke was something I learned”

(Eternal Himalaya)

अध्यात्म योग और तपस्या का महत्व बहुत होता है और इसके द्वारा अष्टापद के दर्शन करके अनेको पुण्य आत्माओं ने अपने को धन्य किया है जिनमें सहजानन्द जी का नाम उल्लेखनीय है। इस सन्दर्भ में यह वृत्तान्त महत्वपूर्ण है . . . बंगलोर की सविता बेन छोट्टु भाई ने

हम्पी जाकर कई दिन साधना की तब गुरुदेव सहजानन्दजी ने उनसे जो कहा वह ‘सद्गुरु संस्मरण पत्रांक ८८’ में लिखा है—

मैंने पूज्य गुरुदेव से कहा कि सुगन्ध के साथ किसी के होने का अनुभव किया। तब गुरुदेव ने कहा कि वह तो ऐसे ही हुआ करता है। तुमको कोई साक्षात् दिखायी दे और पूछे कि तुम्हें क्या चाहिये तो कहना कि तुम्हें महाविदेह क्षेत्र के सीमन्धर स्वामी के दर्शन चाहिये। इतना मांगना। ऐसा गुरुदेव ने कहा था . . . वैसे तो मैं शास्त्राभ्यास करती हूँ जिसमें मुझे अष्टापद के विषय में समाधान नहीं हुआ था। गुरुदेव से मैंने प्रश्न पूछा तब गुरुदेव ने उनको जो अष्टापद प्रत्यक्ष दर्शन हुए थे उस अनुभव की बात कही कि अष्टापद पर तीन चौबीसियां हैं, बहत्तर जिनालय हैं। भूत, भावी और वर्तमान रत्न प्रतिमाएं हैं। जिन्हें भरत राजा ने बनवायी है। यहाँ अपने पास जो परम कृपालु देव की पद्मासन प्रतिमा है उससे थोड़ी बड़ी है।

आन्ध्रप्रदेश की राजधानी हैदराबाद से ४५ मील उत्तर पूर्व में कुल्पाक तीर्थ हैं जिसका वर्णन विविध तीर्थ कल्प के अन्तर्गत माणिक्य देव कल्प के रूप में प्राप्त होता है। इस तीर्थ का पौराणिक इतिहास अष्टापद से सम्बन्धित है जो इस प्रकार है . . . पूर्व काल में भरत चक्रवर्ती ने अष्टापद पर्वत पर जिन ऋषभदेव की माणिक्य की एक पृथक प्रतिमा निर्मित कराई थी जो माणिक्य देव के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह अत्यन्त प्रभावशाली प्रतिमा है। कुछ लोगों का ऐसा भी मानना था कि भरतेश्वर की मुद्रिका में स्थित पाचिरत्न से यह प्रतिमा बनायी हुई है। इस प्रतिमा की पूजा चिरकाल तक अष्टापद में हुई। उसके बाद इस प्रतिमा को सर्वप्रथम विद्याधरों ने, फिर इन्द्र ने, उसके बाद रावण ने अपने-अपने यहाँ लाकर उसकी पूजा की। लंका दहन के समय यह प्रतिमा समुद्र में डाल दी गयी और बहुत काल बीतने पर

कन्नड़ देश के अन्तर्गत कल्याण नगरी के राजा शंकर ने पद्मावती देवी के संयोग से उक्त प्रतिमा प्राप्त की और उसे तेलंग देश के कुलपाक नगर में एक नव निर्मित जिनालय में स्थापित कर दी और उसके व्यय हेतु १२ ग्राम प्रदान किये।

अष्टापद पर्वत ऋषभदेवकालीन अयोध्या से उत्तर की दिशा में अवस्थित था। भगवान् ऋषभदेव जब कभी अयोध्या की तरफ पधारते, तब अष्टापद पर्वत पर ठहरते थे और अयोध्यावासी राजा-प्रजा उनकी धर्म सभा में दर्शन-वन्दनार्थ तथा धर्म-श्रवणार्थ जाते थे, परन्तु वर्तमानकालीन अयोध्या के उत्तर दिशा भाग में ऐसा कोई पर्वत आज दृष्टिगोचर नहीं होता जिसे अष्टापद माना जा सके। इसके अनेक कारण ज्ञात होते हैं, पहले तो यह कि भारत के उत्तरदिग्विभाग में रही हुई पर्वत श्रेणियां उस समय में इतनी ठण्डी और हिमाच्छादित नहीं थीं जितनी आज हैं। दूसरा कारण यह है कि अष्टापद पर्वत के शिखर पर भगवान् ऋषभदेव, उनके गणधरों तथा अन्य शिष्यों का निर्वाण होने के बाद देवताओं ने तीन स्तूप और चक्रवर्ती भरत ने सिंह निषद्या नामक चैत्य बनवाकर उसमें चौबीस तीर्थकरों की वर्ण तथा मनोपैत प्रतिमाएं प्रतिष्ठित करवाके, चैत्य के चारों द्वारों पर लोहमय यान्त्रिक द्वारपाल स्थापित किये थे। इतना ही नहीं, पर्वत को चारों ओर से छिलवाकर सामान्य भूमिगोचर मनुष्यों के लिए, शिखर पर पहुंचना अशक्य बनवा दिया था। उसकी ऊँचाई के आठ भाग क्रमशः आठ मेखलायें बनवाई थीं और इसी कारण से इस पर्वत का अष्टापद नाम प्रचलित हुआ था। भगवान् ऋषभदेव के इस निर्वाण स्थान के दुर्गम बन जाने के बाद, देव, विद्याधर, विद्याचारण लब्धिधारी मुनि और जंघाचारण मुनियों के सिवाय अन्य कोई भी दर्शनार्थ अष्टापद पर नहीं जा सकता था और इसी कारण से भगवान् महावीर स्वामी ने अपनी धर्मोपदेश-सभा में यह कहा

था कि जो मनुष्य अपनी आत्मशक्ति से अष्टापद पर्वत पर पहुँचता है वह इसी भव में संसार से मुक्त होता है।

अष्टापद के अप्राप्य होने का तीसरा कारण यह भी है कि सगर चक्रवर्ती के पुत्रों ने अष्टापद पर्वत स्थित जिनचैत्य, स्तूप आदि को अपने पूर्वज भरत चक्रवर्ती के स्मारकों की रक्षार्थ उसके चारों तरफ गहरी खाई खुदवाकर उसे गंगा के जल प्रवाह से भरवा दिया था। ऐसा प्राचीन जैन कथा साहित्य में किया गया वर्णन आज भी उपलब्ध होता है।

आदिनाथ ऋषभदेव की निर्वाणभूमि होने के कारण तीर्थों में सबसे प्राचीन अष्टापद तीर्थ माना जाता है। जिन मन्दिरों और मूर्तियों, स्तूपों के उद्भवों की यह महत्वपूर्ण पौराणिक पृष्ठभूमि है। जैनेतर साहित्य में इसे कैलाश के नाम से सम्बोधित किया गया है। जैन शास्त्रों में भी अष्टापद का नाम कैलाश बताया गया है।

Over the high region of the Himalayas was the way to paradise, the Nirvana and the final resting place of the Jains above the vault of heaven . . . Tirthankaras (Saviours) have abdicated and gone north to Kailasa and Mansarovar, where, dropping their mortal frames, they have ascended to their final abode.

(Ascent To The Divine: The Himalaya Kailasa Mansarovar).

आचार्य हेमचन्द्र प्रणीत अभिधान चिन्तामणि में लिखा है “रजताद्रिस्तु कैलासोऽष्टापद स्फटिकाचल’ (अभिधान चिन्तामणि ४/९४) अर्थात् कैलाश पर्वत के चार नाम हैं— (१) रजताद्रि (२) कैलाश (३) अष्टापद (४) स्फटिकाचल। इसके अलावा और जो नाम उपलब्ध होते हैं वो इस प्रकार हैं। धन्दावास, हराद्रि, हिमवत्, हंस और इसको धवलगिरि भी कहा गया। कैलाश और अष्टापद दोनों का एक ही पर्यायवाची

शब्द है जिसका अर्थ है स्वर्ण या सोना। सूर्य की किरणें जब कैलाश या अष्टापद पर पड़ती हैं तो वह स्वर्ण की भांति चमकता है।

प्राकृत में अष्टापद को 'अट्टावय' कहा गया है। जिसका अर्थ है स्वर्ण या सोना। कैलाश का अर्थ भी रजतशिला होता है। आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व अष्टापद का वर्णन सोने के पर्याय के रूप में बांग्ला लेखक भारतचन्द्र ने किया था— 'देखते-देखते सेउति होइलो अष्टापद' अर्थात् माँ अन्नपूर्णा के नौका पर विराजमान होते ही नौकापतवार आदि स्वर्णमय बन गये। कैलाश को प्राकृत भाषा में 'कईलास' भी कहा गया है। जिसका एक अर्थ राहू का कृष्ण पुद्गल विशेष बताया गया है। कालिदास ने अपने मेघदूत में कैलाश का कृष्ण पर्वत के रूप में उल्लेख किया है। स्वामी तपोवन ने भी कैलाश को कृष्ण पर्वत यानी Dark Mountain कहा है।

अष्टापद का अर्थ आठ पाद वाला भी होता है। अष्टापद नाम का जीव आठ पैरों वाला होता है और शेर से भी ज्यादा बलवान होता है। ऐसा अभिधान चिन्तामणि संस्करण ३१० में उल्लेख मिलता है।

कैलाश तिब्बत प्रदेश में स्थित है। अष्टापद कैलाश के विषय में जानने के लिये तिब्बत के विषय में जानना आवश्यक है। प्राचीन काल से ही तिब्बत और काश्मीर के क्षेत्र को स्वर्ग कहा जाता था और मानव संस्कृति और सभ्यता का उद्गम स्थल भी तिब्बत को माना जाता है। P. N. Oak के अनुसार—

The term 'Tibet' is a malpronunciation of the Sanskrit term 'Trivishtap' meaning paradise. The holy peak Kailas, the sacred Mansarovar lake and the venetrated sources of the river Ganga, Yamuna, Saraswati, Sindhu are all in Himalayan region. The supporting Arab tradition that

Adam first stepped on the earth from the heaven in India points to the fact that Tibet, Kashmir and the Himalayan foot hills may be that region which is named heaven alias Paradise and which has all associations.

Higgins के अनुसार—

The Peninsula of India would be one of the first peopled countries, and its inhabitants would have all the habits of the progenitors of man before the flood in as much perfection or more than any other nation

इस प्रायद्वीप के उत्तर में Tienshan से लेकर दक्षिण में हिमालय पर्वत की शृंखला है जो पश्चिम में नांगा पर्वत से शुरू होकर पाकिस्तान, काश्मीर, हिमाचल प्रदेश, गढ़वाल, कुमायूं क्षेत्र, नेपाल, सिक्किम, भूटान, अरुणाचल प्रदेश से होते हुए पूर्व में नामचे बरवा (७८२८ मीटर ऊँचा) तक स्थित है। यह पठार लाखों वर्षों पूर्व समुद्र से निकला था। भूगोलवेत्ताओं के अनुसार, पहले इस पर्वत शृंखला के स्थान पर भारत और तिब्बत के बीच में तेथ्या नाम का समुद्र था। जब उत्तर और दक्षिण की भूमि भौगोलिक प्रक्रिया के स्वरूप आपस में टकराकर जुड़ गयी तब यह पठार समुद्र से निकला। इस प्रक्रिया में जहाँ-जहाँ गड्ढे और खाइयाँ बने वहाँ तालाब और सरोवर बन गये। भारतीय प्रायद्वीप और यूरेशिया प्रायद्वीप के टकराने से हिमालय की उत्पत्ति किस प्रकार हुई इस विषय में Dr. N.S. Viridi (Scientist of Wadia Institute of Himalayan Geology) के अनुसार—

The Himalayas forms one of the most important constituents of the Alpine-Himalayan mountain chain which extends from Europe through Asia Minor, Iran, Afganistan, Pakistan, India, Nepal, Burma and joins the

Indonesian mountain range, curved in a wide arc convex towards the Indian shield . The centre of this arc lies near lop Nor Lake in the Sinkiang province of China.

He further says—

The Himalayas had been thought to have developed due to the collosion of the Indian subcontinent with the Eurasian continent during the later part of the Mesozoic Era. Dr. Viridi said that the drift continued till the end of Mosozoic Era when the intervening Ocean, the Tethys, Vanished and India started impinging on Tibet. The sedi-ment present in the ocean were uplifted to give rise to the Himalaya.

Himalaya is still rising which is evident from the presence of river deposits hundreds of metres above the present river level.

यह सही है कि हिमालय पर्वत पहले इतना ऊँचा नहीं था। इसकी ऊंचाई धीरे-धीरे बढ़ी और आज भी बढ़ रही है।

हिमालय के विषय में ऋग्वेद में लिखा है-

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा, यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।

यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू, कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४

(अ. १० - सूत्र १२१, ४)

सब हिमाच्छादित पर्वत जिनकी महिमा से उत्पन्न हुए और समुद्र से युक्त पृथिवी भी जिनकी कृति समझी जाती है तथा यह समस्त दिशाएँ जिनकी भुजाओं के समान हैं, वे प्रजापति 'क' आदि अनेक नाम वाले हैं।

It is he to whom belong these celestial snowy heights (यस्येमे हिमवन्तो महित्वा)— He is the lord of the sea along with the

river that flow into it. These directions belong to him, wherein he has spread out his two arms. He is the God whom we should worship with our offerings.

(Eternal Himalaya - Major H.P.S. Ahluwalia)

हमारे पूर्वज हिमालय के महत्व को जानते थे, उसके सौन्दर्य से परिचित थे और यह भी उन्हें पता था कि विश्व में हिमालय शृंखला सबसे ऊँची और बड़ी पर्वत शृंखला है। तभी उन्होंने इसे हिम + आलय का नाम दिया अर्थात् बर्फ का घर (स्थान)। The abode of snow. रामायण और महाभारत से भी पूर्व ऋषि और मुनि इस क्षेत्र से परिचित थे। जैन शास्त्रों में भी इसे हिमवान क्षेत्र कहा गया जो पहले अजनाभ वर्ष कहलाता था। कालीदास ने कुमारसम्भव में हिमालय के विषय में लिखा है—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा, हिमालयो नाम नगाधिराजः ।

पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य, स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥

(कुमारसम्भव १-१)

In the Northern direction there is the noble souled (Devatatma) mountain, by name Himalaya. He is the Lord of all mountain (Nagadhiraaj) with his two extended arms fathoming the eastern and western oceans. He stands unsurpassed as the measuring rod of the earth.

प्रलय के बाद हिमालय की उत्पत्ति एवं भोग-भूमि और कल्प वृक्ष का वर्णन जैन शास्त्रों में मिलता है। महाभारत में भी कल्प वृक्ष के विषय में प्रकाश डाला गया है—

It is the realm of Gods . . . this is the land of the Uttarakurus . . . the trees of the Uttarakurus are always covered with flowers and bear fruit according to the will of the plucker. Plants yield milk and six different kinds of

food, like nectar, clothes and ornaments. The sands are golden, possessing radiance of rubies and diamonds. The seasons are agreeable, tanks are charming, delicious and full of crystal water. Men born there, are dropped from the world of celestials, of pure birth and extremely handsome; women resemble Apsaras (fairies), grow up in love, are always cheerful, free from illness and continue to remain youthful forever.

आदि तीर्थकर ऋषभदेव की यह तपोभूमि व निर्वाणभूमि होने के कारण यह अत्यन्त पवित्र और पुण्य स्थल माना जाने लगा। जहाँ प्राचीनकाल से अनेक ऋषि-मुनि आध्यात्मिक ज्योत को जलाने के लिये जाते रहे हैं। पुराणों में लिखा है, कि जैसे सूर्य सुबह के कोहरे को दूर करता है वैसे ही मनुष्य के सब पाप हिमालय के दर्शन से दूर हो जाते हैं।

The Himalaya, Kailasa and Mansarovar embody a Secret truth. They are pure earth and primordial waters. In their ambience, they are the image of God and the Goddess. From them all life flows.

(Ascent To The Divine, The Himalaya Kailasa-Mansarovar - In Scripture Art and Thought).

Colonel P.T. Etherton ने अपनी पुस्तक 'The Last Strong Holds' में हिमालय के विषय में लिखा है—

The Shrine of the Principal Hindu deities are in the Himalayas, by the Hindus they are regarded as sacrosanct and more merit is obtained by a pilgrimage to them and the snowy peaks than to any of the numerous goals of

pilgrimage through out the East . . . The Himalayan region has proved a power house of destiny for the human race.

हिमालय की भूमि अनादि काल से परम पावन पवित्र मानी गयी है। यह सम्पूर्ण क्षेत्र ही तीर्थ स्वरूप है। यहाँ पर अनेक प्राचीन मन्दिर और स्मारक थे पर आज बहुत कम रह गये हैं क्यों कि बार-बार विदेशी आक्रमण तथा उनके द्वारा की गयी लूट-पाट की प्रवृत्ति ने प्राचीन पूज्य स्थलों को ध्वंस कर दिया। आज भी कुछ प्रमुख तीर्थ पाये जाते हैं कैलाश-मानसरोवर, अमरनाथ-क्षीर भवानी, बद्रीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री, यमुनाोत्री, ज्वालामुखी, ऋषिकेश आदि जहाँ लाखों तीर्थ यात्री हर वर्ष जाते हैं।

हिमालय पर्वत शृंखला में कैलाश एक असामान्य पर्वत है। समस्त हिम शिखरों से अलग और दिव्य। पूरे कैलाश की आकृति एक विशाल शिवलिंग जैसे है। यह आसपास के सभी पर्वतों से ऊंचा है। यह कसौटी के ठोस काले पत्थर का है जब कि अन्य पर्वत कच्चे लाल मटमैले पत्थर के हैं। ये सदा बर्फ से ढका रहता है। कैलाश शिखर को चारों कोनों से देखने पर मन्दिर की आकृति बनी दिखती है। इसकी परिक्रमा ३२ मील की है। जो कैलाश के चारों ओर के पर्वतों के साथ होती है। कैलाश का स्पर्श यात्रा मार्ग से लगभग डेढ़ मील सीधी चढ़ाई पार करके ही किया जा सकता है जो अत्यन्त कठिन है। मत्स्य पुराण (कैलाश वर्णनम्) में कैलाश के विषय में लिखा है—

तस्याश्रमस्योत्तरस्त्रिपुरारिनिषेवितः ।

नानरत्नमयैः श्रृंगः कल्पद्रुमसमन्वितैः ॥ १

मध्ये हिमवतः पृष्ठे कैलाशो नाम पर्वतः ।

तस्मिन्नवसति श्रीमान् कुबेरः सह गुह्यकैः ॥ २

अप्सरोऽनुगतो राजा मोदते ह्यलकाधिपः ।

कैलाशपादसम्भूतं रम्यं शीतजलं शुभम् ॥ ३

मन्दारपुष्परजसा पूरितं देवसन्निभम् ।
 तस्मात् प्रवहते दिव्या नदी मन्दाकिनी शुभा ॥ ४
 दिव्यञ्च नन्दनं तत्र तस्यास्तीरे महद्वनम् ।
 प्रागुत्तरेण कैलाशादिव्यं सौगन्धिकंगिरिम् ॥ ५
 सर्वधातुमय दिव्यं सुवेलं पर्वतं प्रति ।
 चन्द्रप्रभो नाम गिरिः स शुभ्रो रत्नसन्निभः ॥ ६
 तत्समीपे सरो दिव्यमच्छोदं नाम विश्रुतम् ।
 तस्मात् प्रभवते दिव्या नदीं ह्यच्छोदिका शुभा ॥ ७

सूतजी ने कहा—

उनके आश्रम से उत्तर दिशा की ओर भगवान् त्रिपुरारि शिव के द्वारा निवेशित तथा कल्पद्रुमों से संयुत एवं अनेक प्रकार के रत्नों से परिपूर्ण शिखरों से समन्वित हिमवान् के मध्य में पृष्ठ पर कैलाश नाम वाला पर्वत है। उसमें कुबेर अपने गुह्यकों को साथ में लेकर निवास किया करते हैं। १-२ ॥

वहाँ पर अलकापुरी का स्वामी कुबेर राजा सर्वदा अप्सराओं से अनुगत होकर प्रसन्नता का अनुभव किया करते हैं। वहाँ कैलाश के पाद से समुत्पन्न परमरम्य एवं शुभ शीतल जल है। ३ ॥ जो जल मन्दार नाम वाले देववृक्ष के रज पराग से पूरित रहा करता है और देव के ही सदृश है। उसी जल से एक मन्दाकिनी नाम वाली सरिता जो परम दिव्य है और अत्यन्त शुभ है वहन किया करती है। ४ ॥

उस नदी के तीर पर ही वहाँ पर अतीव दिव्य एवं महान वन है जिसका शुभ नाम नन्दन है। कैलाश गिरि से पूर्वोत्तर में एक अति दिव्य सौगन्धिक गिरि है। ५ ॥

यह समस्त धातुओं से परिपूर्ण दिव्य और पर्वत के प्रति सुन्दर वेल वाला है। एक **चन्द्रप्रभ** नाम वाला भी वहाँ पर पर्वत है जो परम शुभ्र और रत्न के तुल्य है। ६ ॥
 उसके ही समीप में एक परम दिव्य अच्छोद नाम से प्रसिद्ध सरोवर है। उस तट से एक शुभ अच्छोदिका नाम वाली नदी उत्पन्न होती है। ७ ॥

तस्यास्तीरे वनं दिव्यं महच्चैत्ररथं शुभम् ।
 तस्मिन् गिरौ निवसति मणिभद्रः सहानुगः ॥ ८
 यक्षसेनापतिः क्रूरो गुह्यकैः परिवारितः ।
 पुण्या मन्दाकिनी नाम नदी ह्यच्छोका शुभा ॥ ९ ।
 महीमण्डलमध्ये तु प्रविष्टे तु महादधिम् ।
 कैलासदक्षिणे प्राच्यां शिवं सर्वौषधिं गिरिम् ॥ १०
 मनः शिलामयं दिव्यं सुवेलंपर्वतं प्रति ।
 लोहितो हेमश्रृंगस्तु गिरिः सूर्यप्रभो महान् ॥ ११
 तस्यपादे महादिव्य लोहितं सुमहत्सरः ।
 तस्मान् गिरौ निवसति यक्षोमणिधरोवशी ॥ १२
 दिव्यारण्यं विशोकञ्चतस्य तीरे महद्वनम् ।
 तस्मिन् गिरौ निवसति यक्षोमणिधरोवशी ॥ १३
 सौभ्यैः सुधार्मिकैश्चैव गुह्यकैः परिवारियः ।
 कैलासात् पश्चिमोदीच्यां ककुद्धानौषधी गिरिः ॥ १४

उस अच्छोदिका सरिता के तट पर एक अत्यन्त शुभ-दिव्य और महान 'चैत्ररथ' नाम वाला वन है। उसमें गिरि पर अपने अनुचरों के साथ मणिभद्र निवास किया करते हैं। ८ ॥

यह यक्षों का अत्यन्त क्रूर सेनापति है जो सर्वदा गुह्यकों से परिवारित रहा करता है और वहाँ पर परम पुण्यमयी मन्दाकिनी नाम वाली अच्छोदिका शुभ नदी बहा करती है। ९ ॥

यही मण्डल के मध्य में महोदधि में प्रविष्ट होने पर कैलाश के दक्षिण पूर्व में शिव सर्वोषधि गिरि है । १० ॥

मैनसिल से परिपूर्ण पर्वत के प्रति सुबेल और दिव्य-हेम की शिखर वाला, लोहित नाम वाला एक महान सूर्य प्रभ गिरि है जिसकी प्रभा सूर्य के समान है। उस पर्वत के निचले भाग में महान् दिव्य लोहित नाम वाला ही एक सर है। उसी सर से लौहित्य नाम वाला एक विशाल नद वहन किया करता है । ११-१२ ॥

उस नद के तीर एक अति महान्-दिव्य विशोका रूप है। उसमें पर्वत पर वशी यक्ष मणिधर निवास किया करता है। वह परम सौम्य और सुधार्मिक गुह्यकों से चारों ओर से घिरा हुआ रहा करता है। कैलाश पर्वत से पश्चिमोत्तर दिशा में ककुद्मान् नाम वाला औषधियों का गिरि है । १३-१४ ॥

ककुद्मति च रुद्रस्य उत्पत्तिश्च ककुद्मिनः ।

तदजनन्त्रैः ककुद शैलन्त्रिककुदं प्रति ॥ १५

सर्वधातुमयस्तत्रसुमहान् वैद्युतो गिरिः ।

तस्य पादे महद्दिव्यं मानस सिद्धसेवितम् ॥ १६

तस्मात् प्रभवते पुण्या सरयूर्लोकपावनी ।

तस्यास्तीरे वनं दिव्यं वैभ्राजं नामविश्रुत ॥ १७

कुबेरानुचरस्तस्मिन् प्रहेतितनयो वशी ।

ब्रह्मधाता निवसति राक्षसोऽनन्तविक्रमः ॥ १८

कैलाशात् पश्चिमामाशां दिव्यः सर्वौषधिर्गिरिः ।

अरुणः पर्वतश्रेष्ठो रुक्मधातुविभूषितः ॥ १९

भवस्य दयितः श्रीमान्पार्वतोहेमसन्निभः ।

उस ककुद्मान् में ककुद्मी रुद्र की उत्पत्ति होती है। वह बिना जन वाला त्रिककूद के प्रति त्रैककुद शैल है। १५ ॥

वहीं पर सम्पूर्ण धातुओं से परिपूर्ण एक अत्यन्त महान् वैद्युत नाम वाला गिरि है। उस पर्वत के पाद में एक अत्यन्त दिव्य मानस वाला सरोवर है जो सदा सिद्धों के द्वारा सेवित रहा करता है। १६ ॥
उस सरोवर से परम पुण्यमयी लोकों को पावन कर देने वाली सरयू नाम वाली नदी समुत्पन्न हुआ करती है। उसके तट पर एक अत्यन्त विशाल वैभ्राज्य नाम से प्रसिद्ध दिव्य वन है। १७ ॥
वहाँ पर कुबेर का अनुचर वशी प्रोहित का पुत्र ब्रह्मधाता निवास किया करता है वह राक्षस अनन्त विक्रम वाला था। १८ ॥
कैलाश पर्वत से पश्चिम दिशा में एक अति दिव्य सर्वोषधि गिरि यह पर्वत सम्पूर्ण पर्वतों में श्रेष्ठ वर्ण वाला और रुक्म (सुवर्ण) धातु से विभूषित होता है। १९ ॥

अस्त्युत्तरेण कैलासाच्छिवः सर्वौषधोगिरिः ।

गोरन्तु पर्वतश्रेष्ठं हरितालमयं प्रति ॥ २४

हिरण्यशृंगः सुमहान् दिव्यौषधिमयो गिरिः ।

तस्यपादे महद्दिव्यं सरः काञ्चनबालुकम् ॥ २५

रम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः ।

गंगार्थं स तु राजर्षरुवाम बहुलाः समाः ॥ २६

उस सर से परम पुण्यमयी और अत्यन्त शुभ शैलोदका नाम वाली नदी समुत्पन्न होकर बहती है। वह उन दोनों के मध्य में चक्षुषी पश्चिम सागर में प्रविष्ट होती है। २३ ॥

कैलाश के उत्तर भाग में सवेषिध शिवगिरि है। यह श्रेष्ठ पर्वत गौर हरिताल मय ही होता है। हिरण्य भृंग बहुत ही महान् और दिव्यौषधियों से परिपूर्ण गिरि है। उसके चरणों के भाग में एक महान् दिव्य सर है जिसकी बालुका काञ्चनमयी है। वहाँ पर एक परम रम्य बिन्दुसर नाम वाला सरोवर है जहाँ पर गंगा के लाने

के लिये तपश्चर्या करता हुआ राजर्षि राजा भगीरथ बहुत से वर्षों तक रहा था। २४-२६॥

मत्स्य पुराण के इस वर्णन में ८वें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ जिनके नाम पर कैलाश के पूर्व में एक पर्वत है। दूसरा यक्ष मणिभद्र का वर्णन जिनकी मान्यता का प्रभाव आज भी जैन मंदिरों में परिलक्षित होता है। यक्ष मान्यता जैनियों में अनादि काल से प्रचलित है। ऋषभदेव स्वामी के निर्वाण स्थल पर मणिभद्र यक्ष का वास यक्षों की परम्परा को प्राचीन जैन परम्परा से सीधा जोड़ता है। जैन साहित्य में मणिभद्र यक्ष के प्रभाव सम्बन्धी अनेक वर्णन मिलते हैं। महुडी (गुजरात) में घण्टाकर्ण की मान्यता जैन समाज में बहुत है और यही घण्टाकर्ण बद्रीनाथ पर्वत के क्षेत्रपाल है। जिस तरह शिखर जी पर्वत के क्षेत्रपाल भूमिया जी, बद्रीनाथ पर्वत के घण्टाकर्ण उसी तरह कैलाश के क्षेत्रपाल मणिभद्र यक्ष है।

तिब्बती मान्यता में यह कहा जाता है कि बुद्ध भगवान ने इस आशंका से कहीं यक्षगण इसके शिखर को उखाड़कर ऊपर न ले जाएं, इसे चारों ओर से अपने पैरों से दबाकर रखा है (कैलाश के चारों ओर बुद्ध भगवान के चार पद-चिन्ह हैं ऐसा कहा जाता है।) तथा नाग लोग कहीं इसे पाताल में न ले जाएं, इस डर से इसके चारों ओर सांकले बनाई गई हैं। कैलाश का अधिष्ठाता देवता देमछोक हैं, जो पावो के नाम से भी पुकारा जाता है। वह व्याध, चर्म का परिधान और नर-मुंडों की माला धारण करता है। उसके एक हाथ में डमरू और दूसरे में त्रिशूल है। इसके चारों ओर ऐसे ही आभूषणों से आभूषित प्रत्येक पंक्ति में पांच सौ की संख्या से नौ सौ नब्बे पंक्तियों में अन्यान्य देवगण बैठे हुए हैं। देमछोक के पार्श्व में खड़ो या एकाजती नामक देवी विराजमान हैं। इस कैलाश शिखर के दक्षिण भाग में वानरराज

हनुमानजी आसीन हैं। इसके अतिरिक्त कैलाश और मानसरोवर में शेष अन्य देवगणों का निवास है। यह कथा 'कडरी-करछर' नामक तिब्बती कैलाश-पुराण में विस्तृत रूप से वर्णित है। उपर्युक्त देवताओं के दर्शन किसी-किसी पुण्यात्मा अथवा उच्च कोटि के लामा को ही हो सकते हैं। कैलाश के शिखर पर मृदंग, घंटा, ताल, शंख आदि और अन्य कतिपय वाद्यों का स्वर सुनायी पड़ता है।

वाल्मीकि० किष्किंधा० ४३ में सुग्रीव ने शतबल वानर की सेना को उत्तरदिशा की ओर भेजते हुए उस दिशा के स्थानों में कैलाश का भी उल्लेख किया है— 'ततु शीघ्रमतिक्रम्ब कान्तारे रोमहर्षणम-कैलामं पांडुरं प्राप्य हष्टा युयं भविष्यथ' अर्थात् उस भयानक बन को पार करने के पश्चात् श्वेत (हिममंडित) कैलाश पर्वत को देखकर तुम प्रसन्न हो जाओगे।

Kangri Karchhak the Tibetan Kailas Purana says, that Kailas is in the centre of the whole universe towering right up into the sky like the handle of a mill-stone, that half-way on its side is Kalpa Vriksha (wish-fulfilling tree), that it has square sides of gold and jewels, that the eastern face is crystal, the southern sapphire, the western ruby, and the northern gold, that the peak is clothed in fragrant flowers and herbs, that there are four footprints of the Buddha on the four sides so that Kailas might not be taken away into the sky by the deities of that region and four chains so that the denizens of the lower regions might not take it down.

तिब्बती पुराणों में कहा गया है कि चक्की के मध्यदंड की भांति भूमंडल के मध्यभाग में अवस्थित यह श्री कैलाश शिखर आकाश का भेदन करते

हुए शोभित हो रहा है। इसके वर्गाकार पार्श्व भाग स्वर्ण और रत्न-जटित हैं; तथा इसका पूर्व मुख स्फटिक-निर्मित, दक्षिण मुख नीलमणि-जटित, पश्चिम मुख माणिक्य-जटित, और उत्तरमुख स्वर्ण जटित है। इसके शिखर सुगंधित पुष्पों और औषधियों से सुसज्जित हैं तथा शिखर पर पहुंचने के मार्ग में अमरत्व प्रदान करने वाला कल्पवृक्ष है। कैलाश शिखर के उत्तर तल पर कडलुड की घाटी में एक प्रकार की औषधि होती है, जिसे खाने से कोई भी व्यक्ति सारे संसार को देख सकता है। रामायण में लक्ष्मण के घायल होने पर हनुमानजी द्वारा यहीं से औषधि लाने का वर्णन मिलता है।

शिव पुराण में कैलाश के विषय में लिखा है —

कैलाशशिखरस्थं च पार्वतीपतिमुत्तमम् ।

यथोक्तरूपिणं शम्भुनिर्गुणं गुणरूपिणम् ॥

वेदैः शास्त्रैयथागीतं विष्णुब्रह्मामानुतं सदा ।

भक्तवत्सलमानन्दं शिवमावाहयाभ्यहम् ॥

श्री कैलाश के शिखर पर निवास करते हैं वे पार्वती देवी के पति हैं। समस्त देवताओं में उत्तम हैं। जिनके स्वरूप का शास्त्रों में यथावत वर्णन किया गया है। जो निर्गुण होते हुए भी गुणरूप है। वेद और शास्त्रों में जिनकी महिमा का यथावत गान किया है। विष्णु और ब्रह्मा भी सदा जिनकी स्तुति करते तथा जो परमानन्द स्वरूप है उन भक्तवत्सल शम्भुशिव का मैं आह्वान करता हूँ।

जैन मान्यतानुसार अष्टापद पर अनेक भव्य आत्माओं ने सिद्ध गति प्राप्त की थी। महाभारत के वन पर्व १५९ में कैलाश को सिद्ध क्षेत्र बताया गया है —

Beyond Kailasa in the north is the path of the sages,
narrow and perilous, seen and known only by the virtuous.

भारत में प्राचीन काल से यह मान्यता चली आ रही है कि मनुष्य की मृत्यु के बाद उसका सिर उत्तर दिशा को (कैलाश की ओर) कर दिया जाता है जिससे उसे स्वर्ग की प्राप्ति हो।

The sanctity of the northern quarter was preserved throughout India's past, even during the great religious debates of 6th - 4th century B.C. The differing doctrines of the polytheists and the heretics were unanimous only on the principles of transcendence, for this overcame the mundane conditions of life and death.

स्कन्दपुराण, (काशीखण्ड अ० १३) तथा हरिवंश (अ० २०२ दक्षिणात्य पाठ) में इसका भगवान् विष्णु के नाभि पद्म से उत्पन्न होना वर्णित है। देवीभागवत तथा श्रीमद्भागवत (५।१६।२२) में इसे देवता, सिद्ध तथा महात्माओं का निवासस्थल कहा गया है। श्रीमद्भागवत (४।६) में इसे भगवान् शंकर का निवास तथा अतीव रमणीय बतलाया गया है— यहाँ मनुष्यों का निवास सम्भव नहीं।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

परम रम्य गिरिबर कैलासू।

सदा जहाँ सिव उमा निवासू ॥

रामायण के बाल्मीकी काण्ड में लिखा है—

कैलासपर्वते राम मनसा निर्मितं परम्।

ब्रह्मणा नरशार्दूल तेनेदं मानसं सरः ॥

(वाल्मी० बाल० २४।८)

विश्वामित्र कहते हैं, राम! कैलाश पर्वत पर ब्रह्मा की इच्छा से निर्मित एक सरोवर है। मन से निर्मित होने के कारण इसका नाम मानस सर या मानसरोवर है।

वामन पुराण में (४४ अ०) यक्षायतन का वर्णन जैन साहित्य के वर्णन से मिलता है।

गच्छामः शरणं देवं शूलपाणि त्रिलोचनम् ।
प्रसादाद् देव देवस्य भविष्यथ यथा पुरा ॥ २
इत्युक्ता ब्राह्मणा सद्धि कैलासं गिरिमुत्तमम् ।
दहशुस्ते समासीन मुमया सहितं हरम् ॥ ३

ब्रह्मा जी ने कहा तीन नेत्र वाले शूलपाणि देव की शरणागति में चलें। देवों के भी देव के प्रसाद से जैसा पहले था सब हो जायेगा। ब्रह्मा द्वारा इस प्रकार कहे गये वे सब ब्रह्माजी के साथ में उत्तम कैलास गिरी पर गये और वहाँ पर उमा के साथ बैठे हुए भगवान् हर का इन्होंने दर्शन किया।

वामन पुराण भाग दो (५४ अ०) में लिखा है—

ततश्चकार शर्वस्य गृहं स्वस्ति कलक्षणम्
योजनानि चतुः षष्टि प्रमाणेन हिरण्यमयम् ॥ २
दन्ततोरण निर्व्यूहं मुक्ताजालान्तरं शुभम्
शुद्ध स्फटिक सोपानं वैडूर्य कृतस्पकम् ॥ ३

इसके पश्चात् विश्वकर्मा ने भगवान् शिव के लिये स्वास्तिक लक्षण वाला गृह निर्मित किया था। जो हिरण्यमय था और प्रमाण में चौंसठ योजन के विस्तार वाला था ॥ २

उस गृह में दन्त तोरण थे और मुक्ताओं के जालों से अन्दर शोभित हो रहा था जिसमें शुद्ध स्फटिक मणि के सोपान (सीढ़ियाँ) थीं जिनमें वैडूर्य मणि की रचना थी ॥ ३

वामन पुराण के इन उल्लेखों में कैलाश में स्फटिक मणि की सीढ़ियों का वर्णन मिलता है जो अष्टापद में आठ सोपानों से साम्य रखता है। इसके अतिरिक्त शूलपाणि का वर्णन है। भगवान महावीर के समय भी शूलपाणि यक्षायतन का वर्णन जैन साहित्य में मिलता है।

कर्नल टॉड ने अपनी किताब *Annals of Rajasthan* में लिखा है—

इस आदि पर्वत को महादेव आदीश्वर वा बागेश का निवास स्थान बताते हैं और जैन आदिनाथ का अर्थात् प्रथम जिनेश्वर का वासस्थान मानते हैं उनके कथानुसार उन्होंने यहीं पर मनुष्य जाति को कृषि और सभ्यता की प्रथम शिक्षा दी थी। यूनानी लोग इसे बैकस का निवास स्थान होना प्रगट करते हैं और इसी से यह यूनानी कथा चली आ रही है कि यह देवता जुपिटर की जंघा से उत्पन्न हुआ।

यूनानी और रोमन लोग भी कैलास से परिचित थे। Pockocke ने अपनी किताब 'India In Greece' में लिखा है—

Koilon is the heaven of Greeks and Coelum that of the Romans. Both these derive from Vedic term Kailas . . .

वास्तु शिल्प के प्रमुख प्रणेता विश्वकर्मा माने जाते हैं। जिनके नाम से प्राप्त अपराजित शिल्प शास्त्र में महादेव और पार्वती सम्वाद रूप में ३५ श्लोक प्राप्त होते हैं जिसमें सुमेरु शिखर पर ऋषभदेव की भव्य प्रतिमा को देखकर पार्वती महादेव से प्रश्न करती है और महादेव जी द्वारा प्रभु का जो वर्णन किया गया वह इस प्रकार है—

सुमेरु शिखरं दृष्ट्वा, गौरी पृच्छति शंकरम् ।

कोऽयं पर्वत इत्येष कस्येदं मन्दिरं प्रभो ॥

सुमेरु शिखर को देखकर गौरी शंकर को पूछती है कि प्रभो! यह कौन सा पर्वत है और किसका मंदिर है ?

कोऽयं मध्ये पुन देवः ? पादान्ता का च नायिका ? ।

किमिदं चक्र मित्यत्र ? तदन्ते को मृगो मृगी? ॥ २

उस मन्दिर के मध्य भाग में ये कौन से देव विराजमान हैं? और उनके पगों के नीचे देवी कौन है? इस परिकर में जो चक्र है ये क्या है? और उनके नीचे ये मृग और मृगी भी कौन हैं?

के वा सिंह गजाः के वा ? के चामी पुरुषा नव ? ।
यक्षो वा यक्षिणी केयम् ? के वा चामरधारकः ? ॥ ३
ये सिंह, हाथी, नौ पुरुष, यक्ष और यक्षिणी तथा चामरधारी ये सब
कौन हैं ?

के वा मालाधरा एते ? गजारूढाश्च के नराः ? ।
एतावपि महादेव !, कौ वीणा वंश वादकौ ? ॥ ४
हे महादेव! ये माला धारण करने वाले, गजारूढ़ मनुष्य और वीणा,
वंशी को बजाने वाले ये कौन हैं ?

दुन्दुभेर्वादकः को वा ? , को वाऽयं शंखवादकः ? ।
छत्रत्रयमिदं किं वा ? , किं वा भामण्डलं प्रभो ! ॥ ५
हे प्रभो ! ये दुन्दुभि बजाने वाले, शंख बजाने वाले कौन हैं? ये तीन
छत्र और भामण्डल क्या है ?

शृणु देवि महागौरि ! यत्त्वया पुष्टमुत्तमम् ।
कोऽयं पर्वत इत्येष कस्येदं मन्दिम् प्रभो ! ॥ ६
हे पार्वती देवी ! तुमने जो पूछा कि यह पर्वत कौन सा है ? किसका
मन्दिर है, यह प्रश्न उत्तम है ।

पर्वतो मेरुरित्येष स्वर्णरत्न विभूषितः ।
सर्वज्ञ मन्दिरं चैतद्, रत्नतोरणमण्डितम् ॥ ७
स्वर्ण और रत्नों से युक्त यह मेरु पर्वत है और रत्नमय तोरण से
सुशोभित यह सर्वज्ञ भगवान का मन्दिर है ।

अयं मध्ये पुनः साक्षाद्, सर्वज्ञो जगदीश्वरः ।
त्रयस्त्रिंशत् कोटि संख्या, यं सेवन्ते सुरा अपि ॥ ८
फिर इसके मध्य में है वे साक्षात् सर्वज्ञ प्रभु है जो तीन जगत्
के ईश्वर हैं और उनकी तेतीस करोड़ देवता सेवा करते हैं ।

इन्द्रियैर्न जितो नित्यं, केवलज्ञान निर्मलः
पारंगतो भवाम्भोधे र्यो लोकान्ते वसत्यलम् ॥ ९

जो प्रभु, इन्द्रियों के विषयों से कभी जीते नहीं गए, जो केवलज्ञान
से निर्मल है एवं जो भवसागर से पार हो गए और लोक के
अन्तिम भाग— मोक्ष में निवास करते हैं ।

अनन्त रूपो यस्तत्र कषायैः परिवर्जितः

यस्य चित्ते कृतस्थाना दोषा अष्टादशापि न ॥ १०
वे मोक्ष स्थित प्रभु अनन्त रूप—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य
अनन्त चतुष्टय—के धारण करने वाले हैं, कषायों से रहित हैं
और जिनके चित्र में अठारह दोषों ने स्थान नहीं किया है ।

लिंगरूपेण यस्तत्र, पुरूपेणात्र वर्तते ।

राग द्वेष व्यतिक्रान्तः, स एष परमेश्वरः ॥ ११
वे वहाँ मोक्ष में लिंगरूप— ज्योति रूप में है और यहाँ पुरुष—
प्रतिमा रूप में वर्तते हैं, राग-द्वेष से रहित ऐसे ये परमेश्वर है ।

आदि शक्तिर्जिनेन्द्रस्य, आसने गर्भ संस्थिता ।

सहजा कुलजा ध्याने, पद्महस्ता वरप्रदा ॥ १२
ध्यान स्थित प्रभु के परिकर के आसन के मध्य भाग में स्थित
कर कमलों से वर देने वाली मुद्रा में आदि शक्ति श्रुतदेवी-
सरस्वती जिनेन्द्र के साथ ही जन्मी हुई उनके कुल में जन्मी
हुई है ।

धर्म चक्र मिदं देवि! धर्म मार्ग प्रवर्तकम् ।

सत्त्वं नाम मृगस्योयं मृगी च करुणा मता ॥ १३
हे देवी ! यह धर्मचक्र, धर्ममार्ग का प्रवर्तक है । यह सत्त्व नामक मृग
और करुणा नामक मृगी है ।

अष्टौ च दिग्गजा एते, गजसिंह स्वरूपतः ।

आदित्याद्या ग्रहा एते, नवैव पुरुषाः स्मृताः ॥ १४
ये हाथी और सिंह के स्वरूप वाले आठ दिशा रूपी दिग्गज-
हाथी है और ये नौ पुरुष सूर्य आदि नव ग्रह हैं ।

यक्षोऽयं गोमुखो नाम, आदिनाथस्य सेवकः ।

यक्षिणी रुचिराकारा, नाम्ना चक्रेश्वरी मता ॥ १५

यह आदिनाथ-ऋषभदेव भगवान का सेवक गोमुख नामक यक्ष और यह सुन्दर आकृति वाली यक्षिणी चक्रेश्वरी नामक देवी लोक में प्रसिद्ध है ।

इन्द्रो पेन्द्राः स्वयं भर्तुर्जाताश्चामर धारकाः ।

पारिजातो वसन्तश्च, मालाधरतया स्थितौ ॥ १६

इन्द्र और उपेन्द्र स्वयमेव प्रभु को चामर ढुलाने वाले हैं । पारिजात वृक्ष और वसन्त ऋतु मालाधारण रूप में स्थित हैं ।

स्नात्रं कर्तुं समायाताः सर्व सन्ताप नाशनम् ।

कर्पूर कुङ्कुमा दीनां, धारयन्तो जलं बहु ॥ १८

कर्पूर-केशर आदि के पानी को धारण करने वाले बहुत से देव सर्व सन्ताप नाशक स्नात्र-महोत्सव करने के लिए आये हैं ।

यथा लक्ष्मी समाक्रान्तं याचमाना निजं पद्मम् ।

तथा मुक्तिपदं कान्त मनन्त सुख कारणम् ॥ १९

जैसे लोग लक्ष्मी से परिपूर्ण अपने पद याचना करते हैं उसी प्रकार उपरोक्त देव भी सुन्दर अनन्त सुख के कारणभूत मोक्ष पद की याचना करते हैं ।

हू हू तुम्बरु नामानौ, तौ वीणा वंश वादकौ ।

अनन्त गुण संघातं, गायन्तौ जगतां प्रभोः ॥ २०

तीन लोक के प्रभु के अनन्त गुण समूह को गाने वाले ये हू हू और तुम्बरु नामक वीणा और बंशी बजाने वाले देव हैं ।

वाद्यमेकोन पञ्चाशद् भेदभिन्न मनेकथा ।

चतुर्विधा अमी देवा वादयन्ति स्व भक्तितः ॥ २१

ये चारों प्रकार के देव अपनी भक्ति से अनेक प्रकार के भेद से ४९ प्रकार के वाजित्रों को बजाते हैं ।

सोऽयं देवी महादेवि ! दैत्यारिः शंखवादकः ।

नाना रूपाणि बिभ्राण एक कोऽपि सुरेश्वरः ॥ २२

हे महादेवी ! ये शंख बजाने वाले, दैत्यों के शत्रु हैं और एक होने पर भी अनेक रूपों को धारण करने वाले देवताओं के ईश्वर-अधिपति इन्द्र हैं ।

जगत्त्रयाधिपत्यस्य, हेतुर्छत्रत्रयं प्रभोः ।

अमी च द्वादशादित्या जाता भामण्डलं प्रभोः ॥ २३

ये तीन लोक का स्वामित्व बताने वाले प्रभु के हेतु भूत तीन छत्र हैं और ये बारह सूर्य प्रभु के भामंडल रूप हो गए हैं ।

पृष्ठ लग्ना अमी देवा याचन्ते मोक्षमुत्तमम् ।

एवं सर्व गुणोपेतः सर्व सिद्धि प्रदायकः ॥ २४

ये पीछे रहे हुए देव उत्तम प्रकार के मोक्ष पद को माँगते हैं । इस प्रकार ये प्रभु सर्व गुणों से युक्त और सर्व प्रकार की सिद्धि को देने वाले हैं ।

एष एव महादेव ! सर्व देव नमस्कृतः ।

गोप्याद् गोप्यतरः श्रेष्ठो व्यक्ताव्यक्ततया स्थितः ॥ २५

हे महादेवि ! यही प्रभु समस्त देवों द्वारा नमस्कृत हैं, रक्षणीय वस्तुओं में सबसे अधिक रक्षणीय होने से श्रेष्ठ हैं और प्रगट व अप्रगट स्वरूप में स्थित हैं ।

आदित्याद्या भूमन्त्येते, यं नमस्कर्तुमुद्यताः ।

कालो दिवस-रात्रिभ्यां यस्य सेवा विधायक ॥ २६

वर्षा कालोष्ण कालादि शीत कालादि वेष भूत ।

यत्पूजाऽर्थ कृता धात्रा, आकरा मलयादयः ॥ २७

जिन प्रभु को नमस्कार करने में उद्यमशील सूर्यादि भ्रमण कर रहे हैं । वर्षा-उष्ण और शीतकालरूपी वेष धारणकर यह काल-

समय दिन और रात्रि द्वारा जिनकी सेवा करने वाला है। और जिनकी सेवा-पूजा के लिये ही विधाता ब्रह्मा ने खानें और मलयाचलादि बनाये हैं।

काश्मीरे कुङ्कुमं देवि! यत्पूजाऽर्थं विनिर्मितम्।

रोहणे सर्व रत्नानि, यद्भूषण कृते व्यधात् ॥ २७
हे देवी ! ब्रह्माजी ने फिर इनकी पूजा के लिए काश्मीर में कुंकुम-केसर बनाई है और रोहणगिरि पर सभी प्रकार के रत्न जिन के आभूषण अलंकार के लिए बनाये हैं।

रत्नाकरोऽपि रत्नानि, यत्पूजाऽर्थं च धारयेत्।

तारकाः कुसुमायन्ते, भ्रमन्तो यस्य सर्वतः ॥ २९
समुद्र भी जिनकी पूजा के लिये रत्न धारण करता है और जिनके आस-पास भ्रमण करने वाले तारे भी पुष्प की भाँति परिलक्षित होते हैं।

एवं सामर्थ्यमस्यैव, ना परस्य प्रकीर्तितम्।

अनेन सर्व कार्याणि, सिध्यन्तोत्यवधारय ॥ ३०
इस प्रकार प्रभु के सामर्थ्य-बल का जैसा लोक में कीर्तन हुआ है, दूसरे किसी का नहीं। अतः इन्हीं प्रभु के द्वारा सारे कार्य सिद्ध होते हैं, ऐसा ही देवी ! तुम जान लो।

परात्परमिदं रूपं ध्येयाद् ध्येयमिदं परम्।

अस्य प्रेरकता दृष्टा चराचर जगत्त्रये ॥ ३१
श्रेष्ठ पुरुषों से भी जिनका रूप श्रेष्ठ-उत्तम है और वह रूप ध्यान करने योग्य है। इस चराचर तीन जगत् में इन्हीं प्रभु की प्रेरणा दिखाई देती है।

दिग्पालेष्वपि सर्वेषु ग्रहेषु निखिलेष्वपि।

ख्यातः सर्वेषु देवेषु, इन्द्रोपेन्द्रेषु सर्वदा ॥ ३२

सभी दिग्पालों में, सभी ग्रहों में, सभी देवों और इन्द्र उपेन्द्रों में भी ये प्रभु सर्वदा प्रसिद्ध हैं।

इति श्रुत्वा शिवाद् गौरी, पूजयामास सादरम्।

स्मरन्ती लिंगरूपेण, लोकान्ते वासिनं जिनम् ॥ ३३
गौरी-पार्वती ने महादेव-शिव से यह वर्णन सुनकर लोकान्त-मोक्षस्थित इन जिनेश्वर प्रभु को ज्योति रूप से स्मरण करते हुए आदर पूर्वक पूजा की।

ब्रह्मा विष्णुस्तथा शक्रो लोकपालस्य देवताः।

जिनार्चनं रता एते, मानुषेषु च का कथा ? ॥ ३४
ब्रह्मा, विष्णु, शुक और देवों सह सारे लोकपाल भी इन जिनेश्वर भगवान की पूजा में तल्लीन हैं तो फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या ?

जानुद्वयं शिरश्चैव, यस्य घष्टं नमस्यतः।

जिनस्य पुरतो देवि! स यादि परमं पदम् ॥ ३५
हे देवी ! जिनेश्वर प्रभु को नमस्कार करते हुए जिसके दोनों जानु गोडे और मस्तक घिस गये हैं वही परम पद-मोक्ष प्राप्त करता है।

वास्तुशिल्प शास्त्र के शिव पार्वती उवाच में ऋषभदेव का महात्म्य ऋषभदेव की प्रामाणिकता की पुष्टि करता है।

सभी धर्मों का प्रेरणा स्रोत कैलाश हैं। यहाँ की तीर्थयात्रा प्रतिवर्ष हजारों यात्री करते हैं। यह क्षेत्र प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव का निर्वाण स्थल है साथ ही यह क्षेत्र पुराणों आदि ग्रन्थों में शिव के नाम से भी जुड़ा है। तिब्बती भाषा में शिव का अर्थ मुक्त होता है। इसी लिये भगवान ऋषभदेव को भी कहीं-कहीं शिव के नाम से भी अभिहित किया गया है—

कैलाश पर्वते रम्ये वृषभो यं जिनेश्वर

चकार स्वारतारं यः सर्वज्ञ सर्वगः शिवः

(स्कन्ध पुराण कौमार खण्ड अ० ३७)

केवलज्ञान द्वारा सर्वव्यापी, सर्वज्ञाता परम कल्याण रूप शिव वृषभ ऋषभदेव जिनेश्वर मनोहर कैलाश अष्टापद पर पधारे।

तिब्बती भाषा में लिंग का अर्थ क्षेत्र होता है—“It may be mentioned that Linga is a Tibetan word of Land” (S. K. Roy - History Indian & Ancient Egypt. pg. 28). तिब्बती लोग इस पर्वत को पवित्र मानकर अति श्रद्धा के साथ पूजा करते हैं तथा इसे बुद्ध का निर्वाण क्षेत्र कागरिक पौंच कहते हैं। यहाँ बुद्ध का अर्थ अर्हत से है जो बुद्ध अर्थात् ज्ञानी थे। शिव लिंग का अर्थ मुक्त क्षेत्र अर्थात् मोक्ष क्षेत्र होता है। शिव भक्त भी लिंग पूजा करते थे। जो प्राचीन काल में भी प्रचलित था— Infact Shiva and the worship of Linga and other features of Popular Hinduism were well established in India long before the Aryans came (K. M. Pannekar ‘A Survey of Indian History’), बाद में तांत्रिकों ने इसका अर्थ अर्हत धर्म के विपरीत बनाकर विकृत कर दिया।

कैलाश का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। शिव और ब्रह्मा ने यहाँ तपस्या की थी, मरीचि और वशिष्ठ आदि ऋषियों ने भी यहाँ तप किया था। चक्रवर्ती सगर के पूर्वज मन्धाता के यहाँ आने का वर्णन मिलता है। गुरुला मन्धाता पर्वत पर उन्होंने तपस्या की थी। ऐसा कहा जाता है कि गुरुला मन्धाता पर्वत की शृंखला को ऊपर से देखे तो एक बड़े आकार के स्वस्तिक के रूप में दिखाई देता है। “The Bonpo the ancient pre-Buddhist Tibetan religion refers to it as a ‘Nine Storey’ Swastik Mountain” बीसवें तीर्थकर मुनिसुव्रत स्वामी इस क्षेत्र में आये थे ऐसा तिब्बती ग्रन्थों में वर्णन है। राक्षस ताल के जिस

द्वीप पर उन्होंने तपस्या की थी उसका स्वरूप कुर्म की तरह था। स्वामी तपोवन के अनुसार राम और लक्ष्मण भी यहाँ आये थे— On the road from Badrinath to Kailas one can see the foot prints of the two horses on which Rama and Laxman were riding when they went to kailas. जैन और जैनेतर दोनों ग्रन्थों में रावण के अष्टापद जाने का विवरण मिलता है। जैन शास्त्र में वर्णित इस घटना के विवरण का कांगड़ा जिले के नर्मदेश्वर मन्दिर की एक दीवार पर बने चित्र से भी पुष्टि होती है। इस विषय में मीरा सेठ ने अपनी किताब ‘Wall paintings of the Western Himalayas’ में लिखा है ‘In one of the panel Rawana in his annoyance being ignored by Siva is trying to shake Kailas.’ यहाँ बालि की जगह शिव को बताया गया है। स्वामी तपोवन ने भी राक्षस ताल में रावण ने तप किया था ऐसा उल्लेख किया है। यह कहा जाता है कि दत्तात्रेय मुनि ने यहाँ तपस्या की थी। महाभारत में भी कैलाश मानसरोवर से सम्बन्धित अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनमें व्यासमुनि, भीम, अर्जुन और कृष्ण के कई बार मानसरोवर जाने का उल्लेख है। जोशीमठ और बद्रीनाथ के बीच पाण्डुकेश्वर से प्राप्त एक ताम्रलेख में वर्णन है कि एक कलचुरी राजा ललितसुर देव और देशतदेव ने इस क्षेत्र को अधिकृत किया था। ह्वेनसांग और इत्सिन आदि यात्रियों ने भारत में इसी क्षेत्र से प्रवेश किया था। जगतगुरु शंकराचार्य के जीवन चरित्र में कैलाश के निकट अपना शरीर छोड़कर योग द्वारा कुछ समय के लिये परकाया में प्रवेश का वर्णन है। कांगरी करछक में वर्णन है कि Geva Gozangba द्वारा कैलास परिक्रमा पथ की खोज सबसे पहले की गई। ऐसा कहा जाता है कि भारत से सप्त ऋषि यहाँ आये थे। आचार्य शांतरक्षित और गुरु पद्मसम्भव ने भी यहाँ की यात्रा की थी। लेकिन इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। Lochava (Tibetan translator) और

Rinchhenzanbo 1058 में यहां आये थे और बारह वर्ष खोचर में रहे थे। उनकी गद्दी आज भी वहां पर है। १०२७ ई. में पण्डित सोमनाथ जिन्होंने “कालचक्र ज्योतिष” का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया था उनके साथ पं. लक्ष्मीकर और धनश्री यहां आये थे। ११वीं शताब्दी में महान तांत्रिक सिद्ध मिलारेपा ने यहां नग्न रह कई वर्ष तपस्या की थी। कैलाश पुराण में उनके चमत्कारों का वर्णन मिलता है। मिलारेपा के गुरु कर्मापा और उनके गुरु तिलोपा ने कैलाश यात्रा की थी। सन् १०४२ में विक्रमशिला विद्यालय के आचार्य दीपांकर ने यहां पर बौद्ध धर्म का प्रचार किया और कई किताबें भी लिखी। कैलाश मानसरोवर की सदियों से प्रचलित तीर्थयात्रा १९५९ से १९८० तक बन्द रहने के बाद १९८१ में पुनः प्रारम्भ हुई। उससे पूर्व तथा बाद में अनेक महत्वपूर्ण लोग इस क्षेत्र में गये और उन्होंने अपनी यात्रा का विवरण अपने लेखों में दिया। यूरोपीय विद्वानों ने भी यहाँ की यात्रा की और महत्वपूर्ण खोजे भी की परन्तु कैलाश की पवित्रता का पूर्णतयः सम्मान करते हुए। सन् १८१२ ई० में William Moor Craft इस क्षेत्र में आये थे और मानसरोवर पर अपना शोध किया था—

The first Europeans to explore the holy lakes were William Moorcraft, whose name will ever be remembered in connection with the tragic fate of the Mission to Bokhara in 1825, and Hyder Hearsey, whose wife was a daughter of the Mogul Emperor Akbar II.

In 1812 Moorcraft and Hearsey, disguised as ascetics making a pilgrimage, entered Tibet by the Niti Pass in Garhwal, visited Gartok, which had then, as now, only a few houses, traders living in tents during the fair season, explored

Rakhas and Mansarovar Lakes and saw the source of the Sutlej river.

“It was in 1824 that the first Russian caravan visited bokhara. On their return to the Almora district the two explorers were arrested by the Nepalese soldiers, but subsequently after some trouble were released (vide “Journal Royal Geog. Soc.,” XXXvi. 2).” (Western Tibet).

सन् १९०१ में Major C. H. D. Ryder and Captain Rawling ने इस क्षेत्र में अपनी खोज जारी रखी। सन् १९०५ में Charles Sherring जो अलमोड़ा के कमिश्नर थे वह और Dr. T. G. Longstaff लिपू लेक घाटी से होकर आये। Dr. Longstaff ने Gurla Mandhata पर चढ़ने की कोशिश की। शिखर पर पहुंचने से पूर्व ही जोर का तूफान आया और उन्हें असफल लौटना पड़ा। सन् १९०७-०८ में Mr. Cassel ने यहां भ्रमण किया। सन् १९०७-०८ में स्वीडिश खोजकर्ता Dr. Sven Hedin यहाँ दो महीने मानसरोवर में रहे तथा Canvas की नौका से मानसरोवर की यात्रा की। वो पहले योरुपिय थे जिन्होंने मानसरोवर, राक्षस ताल और कैलास के विषय में गहन अनुसंधान किया। इनकी यात्राओं का वर्णन बहुत ही रोमांचक और आकर्षणीय है। उन्होंने ब्रह्मपुत्र, गंगा और सतलज के मूल स्रोत को खोज निकाला था। उन्होंने अपनी खोजों का विस्तृत विवरण अपनी किताबों Trans Himalaya (तीन खण्ड) और Southern Tibet (१२ खण्ड) में दिया है। सन् १९०८ में बम्बई के श्री हंसा स्वामी Lipulekh pass से कैलाश गये थे। वहाँ पर १२ दिन रहे तथा बाद में कैलास पर एक मराठी में किताब लिखी जिसका अंग्रेजी अनुवाद उनके एक शिष्य पुरोहित स्वामी ने किया। जिसका नाम Holy Mountain रखा। जिसमें उन्होंने लिखा है कि उन्होंने गौरीकुंड में दत्तात्रेय के दर्शन किये थे और उनकी कृपा से १५ घण्टों की यात्रा

१५ मिनट में पूरी कर ली। सन् १९१२-१३ ई. में मयूर पंखी बाबा ने अनेक बार कैलास की यात्रा की। सन् १९१३ ई. में वो Gengta गुफा में एक वर्ष रहे। सन् १९१४ ई. में उनकी अत्यधिक सर्दी के कारण मृत्यु हो गयी। सन् १९१५ में श्री स्वामी सत्यदेव परिव्राजक कैलाश मानसरोवर गये और उन्होंने इस विषय में पहली हिन्दी किताब लिखी थी। सन् १९२४ में स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज ने कैलाश-मानसरोवर की यात्रा सिर्फ कौपीन पहनकर की थी। सन् १९२२ में रायबहादुर S. R. Kashyap ने कैलास परिक्रमा की और अपने लेख “Some Geographical Observations In Western Tibet” में इसका विवरण दिया। सन् १९२६ में Hugh Rutledge Deputy Commissioner of Almora तथा १९२७ में स्वामी जयेन्द्रपुरी जी मंडलेश्वर ने २५ महात्माओं के साथ इस क्षेत्र की यात्रा की। इनमें से एक पंडित ने “श्री कैलाश मार्ग प्रदीपिका” नामक किताब लिखी थी। सन् १९२९ में केरल निवासी Swami Tapovan ने गंगोत्री होते हुए कैलाश की यात्रा की। उनके विषय में लिखा है—

To quote a very recent example during the year 1920 to 1942 Swami Tapovana of Kerala made several journeys to the Himalayan tops. Born in a remote place in Malabar, Swami Tapovana had a natural yearning for the Himalaya. His study of ancient Malayalam literature and Sanskrit books inspired him and made him long for the holy stopes which had inspired him . . . Swamiji made several journeys to the Himalayan tops, visiting famous shrines from Kashmir to Nepal, always on foot (that too bare foot), without scientific gadgets or even heavy clothes and often without sufficient food supplies. In this way Swamiji

reached a height of at least 4,000 to 5,000 metres traversing lake Mansarovar and the foot of Mt. Kailasa. Swamiji also performed the Parikrama around the base of Kailasa, which has a perimetre of 55 kms. Swamiji has described Kailasa as ‘Krishna-Parvat’, dark mountain . . . Swami Tapovana has left detailed accounts of his journeys into the Himalaya in two Malayalam works ‘Himagiri-Vihara’ and ‘Kailasa-Yatra.’ (Eternal Himalaya)

सन् १९५१ से १९५६ के वर्षों में नागपुर निवासी वोहरा जाति के बुलाकी दास जो hill forest contractor थे। उस क्षेत्र में गये तथा अष्टापद के अनेक चित्र लिये। उन्होंने लिखा है कि — सूर्य की धूप में यह पहाड़ बर्फ से ढका होने पर भी सुनहरा नजर आता है। तेज हवाओं के साथ अजीब घंटियों की सी आवाज सुनायी पड़ती है।

स्वामी प्रणवानन्द जी महाराज कैलाश मानसरोवर में लगभग एक वर्ष तक रहे। उन्होंने वहाँ का वर्णन अपनी पुस्तक Exploration of Tibet में विस्तृत रूप से दिया है। उनके अनुसार कैलाश श्रृंखला अलमोड़ा से १९० किलोमीटर है और लासा से १२८० किलोमीटर है। कैलास को तिब्बती लोग कांगरिपोच कहते हैं। यह मानसरोवर के उत्तर में ६६९३ मीटर ऊंचा है और गुरलमन्धाता पर्वत जो मानसरोवर के दक्षिण में है ७२२२ किलोमीटर ऊंचा है। कैलास की परिक्रमा ५५ किलोमीटर की है।

It’s Gorgeous silvery Summit resplendent with the lustre of spiritual aura, pierces into a heavenly height of 22028 feet above the level of the even bosom of the sea. The parikrama or Circumambulation of the Kailash Parvat is about 32 miles.

यहां पांच गुफाएं हैं। जो आज बौद्ध लामा लोगों के अधिकार में हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं— The five monasteries of Kailas are (1) Nyanri or Chhuku gompa (W.), (2) Diraphuk gompa(N.), (3) Zunthulphuk gompa (E.), (4) Gengta gompa (S.), and (5) Silung gompa* (S.). There are four *shapjes* or footprints of the Buddha, four *chaktaks* or chains, and four *chhak-chhal-gangs*, round Kailas.

Nyanri Gompa से कैलास का दृश्य कैसा दिखता है इस विषय में Sven Hedin ने अपनी किताब Trans Himalaya में लिखा है—

Two monks, two old women, and a boy received us kindly, and said it was the first time they had seen a European in Nayandi. The monastery, as well as the three others on Kailas, is under Tarchen-labrang, which is situated on the southern foot of the mountain, where the pilgrims begin and end their circuit. Curiously enough, these monasteries belong to Tongsa Penlop, the Raja of Bhotan. The view from the Nayandi roof is indescribably beautiful. The icy summit of Kang-rinpoche rises amid fantastic fissured precipitous rocks, and in the foreground are the picturesque superstructure of the monastery and its streamers. (Illustr. 265).

Diraphuk gompha के विषय में Sven Hedin ने लिखा है—

At length we see the monastery Diri-pu in front of us, standing on the slope on the right side of the valley. A huge block of granite beside the path up to it bears the usual sacred characters, and there also are long manis,

streamers, and cairns. Here also there is a fine view of Kailas, raising its summit due south.

सन् १८९८ ई. में लिखित In The Forbidden Land (Vol-1) में A. Henry Savage Landor ने १६६०० ft. पर Lama Chokden Pass से कैलाश के सौन्दर्य का वर्णन किया है—

I happened to witness a very beautiful sight. To the north the clouds had dispersed, and the snow-capped sacred Kelas Mount stood majestic before us. In appearance not unlike the graceful roof of a temple, Kelas towers over the long white-capped range, contrasting in beautiful blending of tints with the warm sienna colour of the lower elevations. Kelas is some two thousand feet higher than the other peaks of the Gangir chain, with strongly defined ledges and terraces marking its stratifications, and covered with horizontal layers of snow standing out in brilliant colour against the dark ice worn rock.

(In the Forbidden Land pg. 184)

कैलाश परिक्रमा पथ पर १८०० फीट ऊपर Dolma-La, a pass के विषय में The Throne Of The God में Arnorld Heim and August Gansser ने लिखा है—

Now we are on pilgrimage to Dolma-La, a pass over 18,000 feet high, the highest in the circuit of Kailas. A forest of cairns indicates the holiness of the place. Great piles of human hair are encircled by little walls. A rock is covered with teeth that have been extracted--- religious sacrifices made by fanatical pilgrims. Huge and savage

granite crags border the pass, which is covered with new-fallen snow. My companions kneel at the tomb of a saint. Hard by is a rock showing what are said to be the holy man's footprints." "Beside Dolma-La is an enormous crag surmounted by a flag staff." (pg. 102)

आगे कैलाश के विषय में उन्होंने लिखा है—

All that is beautiful is sacred---- the fundamental idea of Asiatic religions is embodied in one of the most magnificent temples I have ever seen, a sunlight temple of rock and ice. Its remarkable structure, and the peculiar harmony of its shape, justify my speaking of Kailas as the most sacred mountain in the world. Here is a meeting-place of the greatest religions of the East, and the difficult journey round the temple of the Gods purifies the soul from earthly sins. The remarkable position of this mountain that towers out of the Trans Himalayan plateau already indicates that it must present extremely interesting geological problems for solution. 'this mountain is just as sacred to me as it is to you, for I too am a pilgrim, just as those two lamas who passed a moment ago are pilgrims. Like you, like them, I am in search of the beautiful, the sacred in this wonderful mountain.' . . . "The very stones of this region are sacred, and to collect specimens is sacrilege." (pg. 97-98).

इस पूरे क्षेत्र के विषय में वर्णन करते हुए Western Tibet में Charles A. Sherring ने लिखा है—

The view as one surveys this holy place, venerated alike by Buddhists and Hindus, is one of the most beautiful throughout the whole of this part of the country. The Mansarowar Lake, forty five miles in circumference, on the right, and Rakshas Tal, of equal size and more varied contour, on the left, make with their lovely dark blue a magnificent foreground to the range of the Kailas mountains at the back, While the holy Kailas Peak, Tise of the Tibetans, the Heaven of Hindu and Buddhists, fills the centre of the picture, full of majesty, a king of mountains, dominating the entire chain by 2000 ft. (pg. 280)

कैलाश के पूर्व और उत्तर दिशा का वर्णन Trans Himalaya में इस प्रकार दिया गया है—

Here we have a splendid view of the short truncated glacier which, fed from a sharply defined trough-shaped firn basin, lies on the north side of Kailas. Its terminal, lateral, and medial moraines are small but distinct. Eastwards from Kailas runs off an exceedingly sharp, pointed, and jagged ridge, covered on the north side with snow, and belts of pebbles in the snow give all this side a furrowed appearance.

(Sven Hedin)

It is believed that one *parikrama* of the Kailas peak washes off the sin of one life, 10 circuits wash off the sin of one *kalpa*, and 108 *parikramas* secure *Nirvana* in this very life.

यह माना जाता है कि कैलास की एक परिक्रमा एक जीवन के सारे पापों क्षय कर देती है। १० परिक्रमा एक कल्प के पापों का क्षय कर देती है और १०८ परिक्रमा करने से इसी जन्म में निर्वाण प्राप्त होता है।

इस क्षेत्र में हर बारह वर्ष में एक मेला लगता है—

There is a big flag-staff called *tarbochhe* at Sershung on the western side of Kailas. A big fair is held there on *Vaisakha Sukla Chaturdasi* and *Purnima* (full-moon day in the month of May), when the old flag-staff is dug out and re-hoisted with new flags. Every horse year, and accordingly every twelfth year, crowds of pilgrims come to Kailas.

(Exploration in Tibet)

पुराणों में मानसरोवर की उत्पत्ति के विषय में एक किंवदन्ती है—

एक समय सनक, सनंदन, सनत् कुमार, सनत् सुजात आदि ऋषि कैलास शिखर पर शिव को प्रसन्न करने के लिये तपस्या कर रहे थे, इसी अवधि में बारह वर्ष तक अनावृष्टि होने के कारण आसपास की सब नदियां सूख गईं। स्नान आदि के लिए ऋषियों को बहुत दूर मंदाकिनी तक जाना पड़ता था, इसलिये उनकी प्रार्थना पर ब्रह्मा ने अपने मानसिक संकल्प से कैलास के पास एक सरोवर का निर्माण कर स्वयं हंस-रूप हो उसमें प्रवेश किया। ब्रह्मा की मानसिक सृष्टि होने के कारण इसका नाम मानस-सरोवर पड़ा। अब इसे मानसरोवर या केवल मानस भी कहते हैं। इसके जल के ऊपर सरोवर के मध्य भाग में एक कल्पवृक्ष उत्पन्न हुआ।

The oval lake, somewhat narrower in the south than the north, and with a diameter of about 15½ miles, lies like

an enormous turquoise embedded between two of the finest and most famous mountain giants of the world, the Kailas in the north and Gurla Mandhata in the south, and between huge ranges, above which the two mountains uplift their crowns of bright white eternal snow. . . . Wonderful, attractive, enchanting lake! Theme of story and legend, playground of storms and changes of colour, apple of the eye of gods and men, goal of weary, yearning pilgrims, holiest of the holiest of all the lakes of the world, art thou, Tso-mavang, lake of all lakes. Navel of old Asia, where four of the most famous rivers of the world, the Brahmaputra, the Indus, the Sutlej, and the Ganges, rise among gigantic peaks, surrounded by a world of mountains, among which is Kailas, the most famous in the world; for it is sacred in the eyes of hundreds of millions of Hindus, and is the centre of a wreath of monasteries where every morning blasts of conches sound out from the roofs over the lake. Axle and hub of the wheel, which is an image of life, and round which the pilgrims wander along the way of salvation towards the land of perfection.

(Trans Himalaya)

पवित्र मानसरोवर को Tso Mavang— कहते हैं। इसको संसार का सबसे प्राचीन सरोवर माना गया है। इसके उत्तर में कैलाश, दक्षिण में गुरला मन्धाता और पश्चिम में राक्षसताल और पूर्व में पहाड़ है। इसकी ऊंचाई १४९५० फिट हैं और २०० स्क्वायर एरिया में यह फैला

हुआ है। इसके किनारों पर आठ गुफाएं हैं जिनमें बौद्ध लामा लोग रहते हैं। स्वामी प्रणवानन्दजी ने लिखा है कि इस सरोवर के विषय में पूर्ण रूप से जानने के लिये वहां एक वर्ष तक रहना जरूरी है। क्योंकि हर ऋतु में उसका अपना अलग-अलग सौन्दर्य होता है। जिसका वर्णन कोई दैविक चित्रकार ही कर सकता है। वहां उदित होते हुए सूर्य और अस्त होते हुए सूर्य के समय जो नैसर्गिक सौन्दर्य देखने में आता है वह अवर्णनीय है। सरोवर की परिक्रमा ६४ मील की है और गहराई ३०० फिट की है। तिब्बती लोग इसकी परिक्रमा शीत ऋतु में करते हैं जब उसकी सतह में बर्फ जम जाती है। कैलाश मानसरोवर के विषय में पुराणों महाभारत और रामायण में अनेक उल्लेख मिलते हैं। स्कन्ध पुराण के मानस खण्ड में इसे ब्रह्मा के मानस से उत्पन्न इसे बताया गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार महाराजा मन्धाता ने मानसरोवर के किनारे तपस्या की थी। मानसरोवर को अनवतप्त (पृथ्वी का वास्तविक स्वर्ग) बताया गया है।

Since the advent of Aryan civilization into India, Tibet and especially the Kailas-Manasarovar region have been glorified in the Hindu mythology as part of the Himalayas. The *Ramayana* and the *Manasakhanda* of *Skanda Purana* in particular sing the glory of Manasarovar. She is the creation of the *manas* (mind) of Brahma, the first of the Trinity of the Hindu mythology; and according to some the Maharaja Mandhata found out the Manasarovar. Mandhata is said to have done penance of the shores of Manasarovar at the foot of the mountains which are now known after his name. In some Pali and Sanskrit Buddhist works, Manasarovar is described as *Anavatapta*---take

without heat and trouble. In the centre is a tree which bears fruits that are 'omnipotent' in healing all human ailments, physical as well as mental, and as such much sought after by Gods and men alike. This *Anavatapta* is described as the only true paradise on earth.

There are seven rows of trees round the Holy Manasarovar, and there is a big mansion in it, in which resides the king of *Nags* (serpent-Gods) and the surface of the Lake is like a huge tree in the middle. The fruits of the tree fall into the Lake with the sound *jam*; so the surrounding region of the earth is named 'Jambu-ling', the Jambudwipa of Hindu *Puranas*. Some of the fruits that fall into the Lake are eaten by the *Nags* and the rest become gold and sink down to the bottom.

(Exploration in Tibet)

The eight monasteries round Manasarovar are: (1) Gossul gompa (west), (2) Chiu gompa (N.W.), (3) Cherkip gompa (N.), (4) Langpona gompa (N.), (5) Ponri gompa (N.), (6) Seralung gompa (E.), (7) Yerngo gompa (S.), and (8) Thugolho gompa or Thokar (S.). There are four *lings* or *chhortens* (memorials of some great lamas) and four *chhak-chhal-gangs* (wherefrom *sashtanga-danda-pranamam* or prostration salute is made) round Manasarovar. The four *chhortens* are at Chiu gompa, Langpona gompa, Seralung gompa, and Thugolho gompa. The four *chhak-chhal-gangs* are at Momo

donkhang (S.W.), Sera la (W.), Havasenimadang (E.), and Riljung (S.E.).”

The monasteries round these lakes are under the government of different ecclesiastical chiefs; for instance, Gozul is under the Taklakot Shivaling, Jaikep (Jenkhob of the maps) under the Ruler of Bhutan, Jiu is a Dokpa Gompa, and the head lama comes from Lhasa, & c. The word Gompa literally means a “solitary place” and hence came to mean a monastery. (Western Tibet).

The scripture further says, that the four great rivers called (1) the langchen Khambab or the Elephant-mouthed river (Sutlej) on the west; (2) the Singi Khambab or the Lion-mouthed river (Indus) on the north, (3) the Tamchok Khambab or the Horsemouthed river (Brahmaputra) on the east, and (4) the Mapcha Khambab or Peacock-mouthed river (Karnali) on the south, have their sources in Tso Mapham--the Lake unconquerable (Manasarovar); that the water of the Sutlej is cool, the water of the Indus hot, the water of the Brahmaputra cold, and of the Karnali warm; and that there are sands of gold in the Sutlej, sands of diamonds in the Indus, sands of emeralds in the Brahmaputra, and sands of silver in the Karnali. It is also said that these four rivers circle seven times round Kailas and Manasarovar and then take their courses towards west, north, east, and south respectively.

Sven Hedin मानसरोवर के मध्य में नौका द्वारा पहुँचकर वहाँ से कैलाश का नैसर्गिक सौन्दर्य देखकर हतप्रभ रह गये—

Thousands and thousands of pilgrims have wandered round the lake in the course of centuries, and have seen the dawn and sunset, but have never witnessed the display which we gazed upon from the middle of the holy lake on this memorable night.

मानसरोवर के पश्चिम में राक्षस ताल या रावण हृद है। कहते हैं रावण ने शिव को प्रसन्न करने के लिये यहां तप किया था। राक्षस ताल में दो द्वीप हैं। लचाटो और टोप्सर्मा। लचाटो का स्वरूप कुर्म की तरह है। जो २०वें तीर्थकर मुनि सुब्रत स्वामी का लाँछन है। इसका घेरा एक माइल का है। पहाड़ी के ऊपर मनीश्लैब है जिसमें लिखा है ओम मनी पद्म हूं। दूसरा द्वीप तोप्सर्मा बड़ा है इसके पूर्व में एक पक्के घर का खण्डहर है। कहां जाता है कि पूर्व में कोई लामा यहां रहता था। Dr. Sven Hedin ने अपनी खोजों में राक्षस ताल में तीन द्वीप बताये हैं। जबकि स्वामीजी ने दो का ही उल्लेख किया है। शीत काल में मानसरोवर में दो से चार इंच तक बर्फ जम जाती है उस समय के हुए अपने अनुभवों के उल्लेख स्वामी जी ने अपनी किताब Exploration in Tibet में किया है।

At a distance of 1½ to 6 miles to the west of Manasarovar is the Rakshas Tal, also known as Ravan Hrad, Rakshas Sarovar, or Ravan Sarovar where Ravana of Lanka fame was said to have done penance to propitiate Lord Shiva, the third of the Hindu Trinity and the dweller of Kailas. “There are two islands in Rakshas Tal, one Lachato and the other Topserma (or Dopserma).” “Lachato is a rocky and hilly island having the appearance of a tortoise with the neck stretched out towards a peninsula on the southern

shore.” “On the top of the hill is a *laptche*, a heap of stones, with *mani*-slabs.”

राक्षसताल के विषय में The Throne of the God में वर्णन है कि—

Towards evening we reached the shores of Lake Raksas, which this time was worthy of its name of “haunted lake”. storm-wind lashed the water. The foam-crowned waves broke with a roar upon the sandy beach. I could not but, be reminded of the stormy boat-journey of Sven Hedin, the first European to explore this lake. Beneath over-hanging rocks we found a camping site well sheltered from the wind, I think the best camp of this journey. In front of us was the raging lake, and northward the partially obscured Trans Himalayan chain, over topped by Kailas, round which the storms were raging. To the S.E. we could see the slopes of Gurla Mandhata, with their shining glaciers.

To the S.E. the distant Gurla Mandhata is resplendent in yellows and wine-reds; Raksas Valley is violet and green; the clouds aloft are golden; and in the west the mountains covered with new-fallen snow have a golden-red tint. Gurla turns dark violet, the clouds red-violet, a moment snatches the glory from the grey, the sun has vanished. Raksas, and Manasarowar which lies beyond it, are the two holiest lakes in Tibet. They form the great upland basin out of which the Brahmaputra flows

eastwards, and the Sutluj, one of the main tributaries of the Indus, northwestwards.

Sven Hedin ने मानसरोवर के विषय में लिखा है—

For Manasarowar is the holiest and most famous of all the lakes of the world, the goal of the pilgrimage of innumerable pious Hindus, a lake celebrated in the most ancient religious hymns and songs, and in its clear waters the ashes of Hindus find a grave as desirable and honoured as in the turbid waters of the Ganges.

मानसरोवर के मध्य में पहुँचकर वहाँ से गुरल मन्धाता पर्वत के सौंदर्य का उल्लेख इस प्रकार किया है—

Only an inspired pencil and magic colours could depict the scene that met my eyes when the whole country lay in shadow and only the highest peaks of Gurla Mandhata caught the first gleam of the rising sun. In the growing light of dawn the mountain, with its snow fields and glaciers, had shown silvery white and cold; but now ! In a moment the extreme points of the summit began to glow with purple like liquid gold.

जिस तरह नवकार मंत्र जैनधर्म में, गायत्री मंत्र हिन्दू धर्म में प्रमुख माना जाता है। उसी तरह तिब्बत में ‘ओम मणि पद्म हूँ’ यह मंत्र अत्यन्त पवित्र और प्रमुख माना जाता है। इसके विषय में स्वामी प्रणवानन्द जी ने लिखा है—

“*Om-ma-ni-pad-me-hum* is the most popular and sacred mantra of the Tibetans, which is ever on the lips of all

men, women, children, monks, and house-holders. They always repeat this mantra for a greater number of times than a most orthodox Brahmin does his Gayatri Japa in India. The meaning of this formula is “The Jewel of Om in the Heart-Lotus.” The word ‘Hri’ is also added to it very often. As in Tantric schools, Tibetans assign certain colours to each letter of the mantra and they believe that the utterance of this six-syllabled formula extinguishes re-birth in the six worlds and secures Nirvana. The colours of the letters are white, blue, yellow, green, red, and black respectively. ‘Hri’ is also said to be white. The *mani-mantra* is said to be an invocation of the Bodhisattva Avalokiteswara.”

Abode of Snow में Andrew Wilson ने पूरे एक अध्याय में इस मंत्र के विषय में लिखा है जिसका कुछ अंश यहां दे रहे हैं—

The stones are beautifully inscribed for the most part with the universal Lama prayer, “Om mani padme haun;” but Herr Jaeschke informs me that sometimes whole pages of the Tibetan Scriptures are to be found upon them, and they have, more rarely, well-executed bas reliefs of Buddha, of various saints, and of sacred Buddhistic symbols. These stones are usually prepared and deposited for some special reason, such as for safety on a journey, for a good harvest, for the birth of a son; and the prodigious number of them in so thinly peopled a country indicated an extraordinary waste of human energy. . . .

These primitive six syllables which the Lamas repeat are, of all the prayers of earth, the prayer which is most frequently repeated, written, printed, and conveniently offered up by mechanical means. They constitute the only prayer which the common Mongols and Tibetans know; they are the first words which the stammering child learns, and are the last sighs of the dying. The traveller murmurs them upon his journey; the herdsman by his flock; the wife in her daily work; the monk in all stages of contemplation,---that is to say, of nihilism; and they are the cries of conflict and triumph. . . .

They are, according to the meaning of the believer, the essence of all religion, of all wisdom and revelation; They are the ways of salvation, and the entrance to holiness. These six syllables unite the joys of all Buddhas in one point, and are the root of all doctrine. . . .

It is rather disappointing to find that the closest English version of them which can be given is “O God ! the jewel (or gem) in the lotus ! Amen.” I have gone carefully into this subject, and little more can be got out of it. Substantially the prayer, or rather the exclamation, is not of Tibetan, but of Sanskrit origin. Koeppen translate it simply as that is “O ! das Kleinod in Lotus ! Amen.” But that is quite insufficient, because the great force of the formula lies in “Om,” the sacred syllable of the Hindus, which ought never to be pronounced, and which denoted the absolute, the supreme Divinity.”

Sven Hedin 'Trans Himalaya' ग्रन्थ में इस विषय में कहते हैं-

Concerning this Waddell makes, among others, the following remarks : "Om-ma-ni pad-me Hum, which literally means "Om! The Jewel in the Lotus! Hum!" is addressed to the Bodhisattva Padmapani, who is represented like Buddha as seated or standing within a lotus-flower. He is the patron-God of Tibet and the controller of metempsychosis. And no wonder this formula is so popular and constantly repeated by both Lamas and laity, for its mere utterance is believed to stop the cycle of re-births and to convey the reciter directly to paradise. Thus it is stated in the Mani-kah-bum with extravagant rhapsody that this formula is the essence of all happiness, prosperity, and knowledge, and the great means of deliverance, for the 'Om' closed re-birth amongst the gods, 'ma' among the Titans, 'ni' as a man, 'pad' as a beast, 'me' as a Tantalus, and 'Hum' as an inhabitant of hell. And in keeping with this view each of these six syllables is given the distinctive colour of these six states of re-birth, namely: 'Om,' the godly white; 'ma,' the Titanic blue; 'ni,' the human yellow; 'pad,' the animal green; 'me,' the Tantalus red; and 'Hum,' the hellish black.

(The Buddhism of Tibet, 148-9)

इन विद्वानों ने इस मंत्र की व्याख्या करके इसका जो अर्थ किया है उससे वे स्वयं भी संतुष्ट नहीं हुए हैं। ओम् में पंच परमेष्ठी तथा

ब्रह्मा, विष्णु और महेश निहित हैं। मणि का अर्थ होता है सर्वश्रेष्ठ, पद्म का अर्थ चरण कमल, हूँ का अर्थ है प्रत्यास्मरण अतएव जिन सर्वश्रेष्ठ पुरुषों के पवित्र चरण यहाँ पर पड़े उनका हम प्रत्यास्मरण करते हैं। कैलाश पर्वत तथा उसके आस-पास का क्षेत्र सिद्ध भूमि कहलाता है। यहाँ से अनेक दिव्य आत्माओं ने मुक्ति प्राप्त की अतः उन सभी सिद्ध आत्माओं जिनके चरण कमल इस भूमि पर पड़े उन सभी का हम प्रत्यास्मरण करते हैं। यही इस मंत्र का सार्थक अर्थ है।

चतुर्विध संघ की स्थापना करके ऋषभदेव इस अवसर्पिणी काल के आदि तीर्थकर बने। समवसरण में उनकी देशना होने के उपरान्त अखण्ड तूष रहित उज्ज्वल शाल से बनाया हुआ चार प्रस्थ जितना बलि (अर्थात्-बिना टूटे साफ सफेद चावल) थाली में रख करके समवसरण के पूर्व द्वार से अन्दर लाया गया और प्रभु की प्रदक्षिणा कर उछाल दिया गया। उसके आधे भाग को देवताओं ने ग्रहण कर लिया जो पृथ्वी पर गिरा उसका आधा भरत ने और आधा भाग परिवार जनों ने बांट लिया। उन बलि चावलों का ऐसा प्रभाव माना जाता है कि उसके प्रयोग से पुराने रोग नष्ट हो जाते हैं और छः महीने तक नये रोग नहीं होते। आज भी कैलाश की परिक्रमा करते हुए तीर्थयात्री वहाँ चावल अर्पण करते हैं जिसका उल्लेख 'Throne of the Gods' में लेखक ने किया है—

There are endless chains of red, brown, and yellow mountains, incredibly clear. On the far horizon we discern a new mountain range, pastel blue in the distance, with yellow glaciers. This is Trans Himalaya. Out of the vast extent of these new peaks there thrusts up a white cone,

a mountain of strange shape, Kailash, the holy of holies of the Asiatic religion. My companions are motionless, the snow reaching to their hips, while they say their prayers. Each of us offers up to Kailash a handful of rice, scattered down the wind which blows towards the mountain.

(The Throne of the Gods)

बंगाल, बिहार और उड़ीसा के प्राचीन सराक जाति के लोगों में भी बीस तीर्थकरों की निर्वाण भूमि पारसनाथ (शिखर जी) की दिशा में धान (चावल) अर्पण करने की परम्परा आज भी देखने को मिलती है, जो अष्टापद पर चावल चढ़ाने, उछालने की प्राचीन परम्परा का प्रतीक है। सराकों के गोत्र पिता आदिनाथ या ऋषभनाथ है। मन्दिरों में चावल चढ़ाने की प्रथा भी इसी प्राचीन परम्परा से चली आ रही है। चावल की सिद्ध शिला जिसका आकार अर्द्धचन्द्राकार बनाकर उसपर मुक्त जीव का बिन्दु आकार बनाया जाता है। सिद्ध शिला के प्रतीक चन्द्र बिन्दु के नीचे सम्यक दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य का प्रतीक तीन बिन्दु बनाये जाते हैं। उसके पश्चात् स्वस्तिक।

Sven Hedin ने कैलाश के विषय में कहा है—

The holy ice mountain or the ice jewel is one of my most memorable recollections of Tibet, and I quite understand how the Tibetan can regard this wonderful mountain as a divine sanctuary which has a striking resemblance to a chhorten. The monument which is erected in memory of a deceased saint within or without the temples.

ऋषभदेव स्वामी के निर्वाण स्थल पर स्तूप निर्माण की जैन शास्त्रों में दिये गये उल्लेखों की पुष्टि Sven Hedin के इस वर्णन से होती है जो उन्होंने कैलाश परिक्रमा करते समय डिरिपू गुफा से आगे चलने पर किया है—

On our left, northwards the mountain consist of vertical fissured granite in wild pyramidal form. Kailash is protected on the north by immense masses of granite.

कैलाश तथा उसके आस-पास प्रचुरता से संगमरमर पत्थर की बनी प्राचीरें आदि वहाँ प्राचीन काल में चैत्यों और स्तूप निर्मित होने की पुष्टि करते हैं। श्री भरत हंसराज शाह ने सन् १९५३-१९९६ और सन् १९९८ में कैलाश की तीन बार यात्रा की। यात्रा के दौरान उन्होंने अनेक चित्र लिये जिनसे यह स्पष्ट होता है कि वहाँ कभी मानव निर्मित भवन थे। चित्रों में एक Sphinx भी दिखाई देता है जो शायद मिस्र में बने पिरामिडों का आदि स्रोत रहा होगा। श्री भरत हंसराज शाह ने लिखा है—

“During my last two *yatras*, going away from stipulated and regulated route, I have tried to find any possibility. The particular place, I have visited and photographs-slides I have taken, shows excellent results inviting more study in that direction. There is a cathedral like chiselled mountain in front of South face of *Mount Kailas*. An image of sitting lion can be seen on its top. (“*sinhnishadhya*” *prasad*). Vertical sculptures are visible on its middle part. A ‘sitar’ like musical instrument is also visible with one of the sculptures. The tops of few mountains near this mountain are very identical. Their tops are rectangular in shape in front. The mountains themselves are also identical and are of the shape of *Gopurams*. There is a *Gokh (Zarookha)* clearly visible in one of the mountain facing *Nyari Gompa* across the river. In the same range there is a sphinx like huge image in a mountain. Few cubicle shaped huge stones are lying in the area. Gear teeth

shape marble stones are also seen in a pillar like shape in one of the mountains. Bevelled marble stone border is also visible on one of the hills. *Chabutara* shaped ruin is also seen at a place. All this shows that in past, a large scale human work is done at this place. Only in Jain Indology it is mentioned that huge temples, *chaityas, stupas* were erected in *Ashtapad* vicinity.

(Astapad : A Possibility)

बेबीलोन के प्राचीन मन्दिरों जिनको जिगुरात कहते थे उनकी निर्माण शैली भी अष्टापद कैलाश के आधार पर ही बनी है।

The first temple or historical monument, the Ziggurat, found in region between the river Euphrates and Tigris, carried the same message of ascent. It was built by human hands, probably in the form of a stepped receding pyramid, with a chamber on the top reached by a flight of steps. “This architectonic model has been used much later in the Aztec temple of the Sun in South East Asia. The archetype of all these symbolic monuments is the peak of *Ashtapad* itself a receding pyramid”.

(Ascent To The Divine. The Himalaya and Manasarover in Scripture Art and Thought.)

अष्टापद और जिगुरात की तुलना करते हुए U.P. Shah ने ‘Studies In Jaina Art’ में लिखा है—

“The Jain tradition speak of the first Stupa and Shrine, erected by Bharat, on the mountain on which Rṣabhanatha obtained the Nirvana. The shrine and the stupas erected, Bharat made eight terraces (Asta-Pada) between the foot and the top of the mountain. Hence the Astapada given

to the first Jaina Shrine being an eight - terraced mountain, an eight terraced Ziggurat, or an eight terraced stupa.”

The Ziggurat was also the mount of the Dead.

Henry Frank Fort, ने अपने ग्रन्थ *The Birth of Civilisation* में लिखा है—

In the Near East. In Mesopotamia, the mountain is the place where . . . The myth express this by saying the God dies or that he is kept captive in the mountain.

बर्मा में भी इसी तरह की stepped monastries देखने को मिलती है। जिसके विषय में ‘A History Of Indian And Eastern Architecture’ में James Fergusson ने लिखा है—

“It may be asked, How it is possible that a Babylonian form should reach Burma without leaving traces of its passage through India? It is hardly a sufficient answer to say it must have come via Tibet and Central Asia,”

John Snelling ने अपनी किताब ‘The Sacred Mountain’ में कैलाश पर्वत की तुलना एक विशाल मन्दिर से की है। अतः चाहे वह मिस्र के पिरामिड हो, बेबीलोन के जिगुरात हो या बर्मा के पगोडा, सबकी निर्माण शैली में एक समानता देखने को मिलती है जो यह स्पष्ट करती है कि इन सबका प्राचीन मूल आधार अष्टापद पर निर्मित स्तूप एवं मन्दिर रहे हैं।

इन सब तथ्यों का तुलनात्मक अध्ययन कर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कैलाश की अपेक्षा अष्टापद का दायरा विशाल है जिसमें पूरी कैलाश शृंखला समाहित है। आदि तीर्थंकर की पुण्य भूमि होने के कारण इसकी पवित्रता एवं पूज्यता प्राचीन काल से परम्परा के रूप में अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है।

साहित्य में उपलब्ध वर्णन के अनुसार अनेक महान आत्माओं ने इस तीर्थ की समय-समय पर यात्रा की। दुर्भाग्यवश भौगोलिक एवं राजनैतिक कारणों से जब इस सिद्ध क्षेत्र में आवागमन अवरुद्ध हो गया तो इसकी स्मृति को जीवन्त बनाये रखने के लिये अपने-अपने पहुँच के क्षेत्र में अष्टापद जिनालय बनाये गये और उनके दर्शन पूजा से अष्टापद को चिरकाल से धरोहर के रूप में अपनी स्मृति में संजोकर रखा। सभी बड़े-बड़े तीर्थ स्थानों और मन्दिरों में अष्टापद जिनालय बने हुए हैं। कलकत्ता के बड़ाबाजार मंदिर में अष्टापद बना हुआ है। फलौदी के मन्दिर में तथा बिहार में भागलपुर और पटना के बीच में १७वीं शताब्दी में भगवन्त दास श्रीमाल द्वारा स्थापित तीर्थ में अष्टापद बना हुआ है। श्रेष्ठी वस्तुपाल द्वारा गिरनार पर्वत के शिखर पर अष्टापद सम्मत् शिखर मण्डप एवं मरुदेवी प्रसाद निर्मित कराये गये। प्रबन्ध चिन्तामणि एवं वस्तुपाल चरित्र के अनुसार प्रभास पाटन में वस्तुपाल द्वारा अष्टापद प्रासाद का निर्माण कराया था। तारंगा तीर्थ में अष्टापद निर्मित किया गया है। शत्रुञ्जय तीर्थ में आदिनाथ जिनालय के बाईं तरफ सत्यपुरियावतार मन्दिर के पीछे अष्टापद जिनालय बना हुआ है। जैसलमेर के विश्व विख्यात जिनालयों में भी अष्टापद प्रासाद है जिसके ऊपर शांतिनाथ जिनालय है। अष्टापद प्रासाद के मूल गर्भगृह में चारो ओर ७-५-७-५- चौबीस जिनेश्वरों की प्रतिमाएं सपरिकर हैं। हस्तिनापुर जहाँ भगवान् ऋषभदेव स्वामी का प्रथम पारणा हुआ था भव्य अष्टापद जिनालय का निर्माण कराया गया है। इस प्रकार अनेकों तीर्थों और मन्दिरों में अष्टापद जिनालय निर्मित किये गये हैं। ये परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। एलोरा की गुफाओं में कैलाश (अष्टापद) का निर्माण इस बात को और भी प्रमाणित करता है। इसी शृंखला में अमेरिका के न्यूयार्क

शहर में डॉ. रजनीकान्त शाह द्वारा जैन मन्दिर निर्मित कराया गया जिसमें अष्टापद का निर्माण कराया जा रहा है। अष्टापद के ऊपर उपलब्ध साहित्य भी उन्होंने प्रकाशित किया है। इसी सन्दर्भ में जनवरी २००५ में अष्टापद पर अहमदाबाद में विद्वानों की एक संगोष्ठी भी कराई गयी।

इस प्रकार जैन साहित्य में आचारांग निर्युक्ति से लेकर वर्तमान युग में श्री भरत हंसराज शाह के लेखों और चित्रों में हमें अष्टापद पर मंदिरों और स्तूपों के निर्माण का विस्तृत और सुनियोजित वर्णन मिलता है। जो परम्परा के रूप में आज भी जैन तीर्थों और मन्दिरों में जीवन्त है। जैन धर्म के प्राचीन इतिहास की महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में अष्टापद की खोज और उसकी प्रामाणिकता साहित्यिक उल्लेखों से और परम्पराओं से स्थापित हो जाती है। यह एक महत्वपूर्ण विषय है जिससे विश्व इतिहास को केवल एक नया आयाम ही नहीं मिलेगा बल्कि मानव सभ्यता और संस्कृति के आदि स्रोत का पता चल सकेगा। यह हमारी अस्मिता की पहचान है और भारतीय सभ्यता और संस्कृति की प्राचीनता का अकाट्य प्रमाण भी।

)

ग्रन्थ-सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ

- आचार्य हस्तीमलजी - जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग- १, २, जैन इतिहास समिति, जयपुर, १९२४.
- आचार्य सुशील मुनि - इतिहास के अनावृत पृष्ठ, आचार्य सुशील मुनि मेमोरियल ट्रस्ट, नई दिल्ली, १९९९.
- गुप्त, सरयुप्रसाद - महाभारत और पुराणों के तीर्थों का आलोचनात्मक अध्ययन, वाराणसी।
- गोलछा, सोहनलाल - तपरत्नाकर, कटनी (मध्यप्रदेश), १९७९.
- गोलालारे, लामचीदास - मेरी कैलाश यात्रा, मेरठ, १८२४.
- जैन, काशीनाथ - आदिनाथ चरित्र, नरसिंह प्रेस, कोलकाता, १९२४.
- दुग्गड़, हीरालाल - मध्य एशिया और पंजाब में जैन धर्म, जैन प्राचीन साहित्य प्रकाशन मन्दिर दिल्ली, १९७९.
- टॉड, कर्नल जेम्स - राजस्थान इतिहास (अनुवाद) संपा. - पंडित गौरीशंकर ओझा, बाबू रामसरण विजय सिंह, बांकीपुर, पटना, १९१३.
- दोशी, बेचरदास - जैन साहित्य का वृहद इतिहास, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी - ५, १९६६.
- नाहटा, भंवरलाल - नगरकोट-कांगड़ा महातीर्थ, श्री सोहनलाल कोचर, कोलकता, विक्रम सम्वत् २०४८.
- बोथरा, लता - संस्कृति का आदि स्रोत जैन धर्म, श्री जैन भवन, पी-२५ कलाकार स्ट्रीट, २००१.
- भण्डारी, सुख सम्पत्तराय - भारतीय सभ्यता और उसका विश्वव्यापी प्रभाव, श्री महावीर ग्रन्थ प्रकाश मन्दिर, भानपुरा, १९८२.
- मजुमदार, रमेशचन्द्र - प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसी दास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली, १९९५.
- महोपाध्याय चन्द्र प्रभ सागर - तीर्थ और मन्दिर, भारतीय विचार मंच, नई दिल्ली, १९९२.

- मुनि जम्बू विजय - हिमालय की पद यात्रा, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर २००३.
- मुनि महेन्द्र कुमार प्रथम - तीर्थंकर ऋषभ और चक्रवर्ती भरत, अग्रगामी युवक परिषद्, कलकत्ता, १९७५.
- महोपाध्याय विनय सागर - गौतम रास परिशीलन, प्राकृत भारती अकादमी जयपुर, १९८७.
- मुनि विद्यानन्द जी - मोहनजोदड़ो : जैन परम्परा और प्रमाण, कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन, दिल्ली, १९८६.
- ललवानी, गणेश - बरसात की एक रात, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, १९९३.
- शर्मा, हंसराज - पुराण और जैन धर्म, आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा, १९२७.
- शास्त्री, देवेन्द्र मुनि - ऋषभदेव-एक परिशीलन, तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर (राज.), १९७७.
- शाह, शांति लाल, खेमचन्द - जैन परम्परा का रामकथा साहित्य : एक अनुशीलन। साध्वी, चरण प्रभा - पुराणों में जैनधर्म, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, २०००.
- साहू, लक्ष्मी नारायण - उड़ीसा में जैनधर्म, अनुवादक: मुनि शुभकरण, आदर्श साहित्यसंघ चूरु (राजस्थान), १९९४.
- सिंह, शिव प्रसाद - जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी - ५, १९९१.
- सूरि, धनेश्वर - शत्रुञ्जय महात्मय, श्री आत्मानन्द जैन सभा, बम्बई, १९५९.
- मूल ग्रन्थ**
- अथर्ववेद संहिता - संपा. श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृत संस्थान बरेली, १९७०.
- अभिधान चिन्तामणि (हेमचन्द्र) - संपा. हरगोविन्ददास बेचरदास, भावनगर, वीर संवत्, २४४६.
- आचारंग निर्युक्ति (भद्रबाहु)- सूरत, १९४१.
- आवश्यक निर्युक्ति (भद्रबाहु) - सूरत, १९४१.
- आदि पुराण (जिनसेन) - संपा. पन्नालाल जैन, वाराणसी, १९६३.

- उत्तर पुराण (जिनसेन) - संपा. पन्नलाल जैन, वाराणसी, १९६८.
- ऋग्वेद संहिता - संपा. भट्टाचार्येण श्रीपादशर्मणा दामोदर भट्टसूनुना सान्तबलेकर कुलजेन, भारतमुद्राणालयम्, औन्ध-नगरम्, सतारा, १९४०.
- कल्पसूत्र - संपा. और हिन्दी अनुवादक, महोपाध्याय विनयसागर, जयपुर, १९७७.
- कुर्म पुराण - संपा. श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृत संस्थान, बरेली, १९७०.
- तिलोय पण्णति (यतिवृषभ) - संपा. ए. एन उपाध्ये, भाग-१-२, शोलापुर, १९४३.
- पंच प्रतिक्रमण सूत्राणि - संपा. लता बोथरा, श्री जैन श्वेताम्बर खरतरगच्छ संघ, कोलकत्ता, २००३.
- भागवत् (१-२) - पंचम संस्करण, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि. सं. २०२१.
- मत्स्यपुराण (१-२) - संपा. श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृत संस्थान बरेली, २००३.
- मार्कण्डेयपुराण - संपा. श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृत संस्थान बरेली, १९७०.
- यजुर्वेद संहिता (शुक्ल) - ऋष्यादिसंवलित श्रीमती परोपकारिणीसभया, वैदिक - यन्त्रालय, अजमेर, वि. सं. १९९९.
- यजुर्वेद तैत्तिरीय-संहिता (कृष्ण) - श्रीपादशर्मणा दामोदर भट्टसूनुना सान्तबलेकर कुलजेन, पारडी, १९५७.
- वराहपुराण - संपा. श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृत संस्थान, बरेली, १९७०.
- विविध तीर्थकल्प (जिनप्रभसूरि) - संपा. मुनि जिनविजय, कलकत्ता १९३४.
- विष्णु पुराण (१-२) - संपा. श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृत संस्थान, बरेली, १९९५.
- शिव पुराण - संपा. श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृत संस्थान, बरेली, २००३.
- स्कन्दपुराण - संपा. श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृत संस्थान, बरेली, १९७०.
- वामन पुराण - संपा. श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृत संस्थान, बरेली, २००३.

पत्रिकाएँ

- अर्हत् वचन - संपा. डॉ. अनुपम जैन, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर - ४५२००१, अक्टूबर-दिसम्बर २००३, अंक ४
- ऋषभ सौरभ - संपा. डॉ. गोकुल प्रसाद जैन, ऋषभदेव प्रतिष्ठान, दिल्ली - १९९२.

- कुशल निर्देश - संपा. भंवरलाल नाहटा, श्री जिनदत्त सूरि सेवा संघ, कोलकाता, अंक १-१२ वर्ष १९७९.
- तित्थयर - संपा डॉ. लता बोथरा, जैन भवन, कोलकाता- ७
- वर्ष : २३, अंक : १-६, सन् १९९९ ; वर्ष : २५, अंक : १-६, २००१;
- वर्ष : २८, अंक : १ सन् २००४ ; वर्ष : २९, अंक : १, २००५.
- पूर्णांक - संपा. डॉ. लता बोथरा, जैन यति गुरुकुल संस्थान, नाल बीकानेर, १९९९-२०००.

कोश ग्रन्थ

- आप्ते, वामन शिवराम - संस्कृत हिन्दी कोश, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली- १९०००७.
- चन्द्र, के. आर. - प्राकृत हिन्दी कोश, प्राकृत जैन विद्या विकास फण्ड, अहमदाबाद, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी - ५, १९८७.
- बाहरी, हरदेव - राजपाल हिन्दी शब्दकोश, काश्मीरी गेट, दिल्ली, १९९१.
- Ahluwalia, A.H. - Eternal Himalaya
- Andrew, Wilson - The Abode of Snow, William Blackwood and Sons, London, 1875.
- Arnold, Heim and August Gansser - The Throne of the God, London, 1939
- Banerjee, S.R. - Introducing Jainism, Jain Bhawan, Kolkata - 7, 2002.
- Bothra, Lata - An Analysis of the Historical Perspectives Depicting the Global Antiquity of Jainism, Kolkata, 2004.
- Chakraborty, A. - Jain Literature in Tamil, New Delhi, 1974.
- Chanda, Rama Prasad - Notes on Pre-Historic Antiquities from Mohan-Jo-Daro, Modern Review, Calcutta, 1924.
- Cuningham, A. - The Ancient Geography of Indian, reprint Varanasi, 1963.
- Fergusson, James - History of Indian And Eastern Architecture Vol-II, (First published 1876 London) reprinted by Munshiram Manoharlal Oriental Publishers, Delhi, 1967.

- Frankfort, Henry - The Birth of Civilisation in the Near East, London, 1951.
- Francke, A. H. - A History of Western Tibet, Motilal Banarsidass Publishers Pvt. Ltd. Delhi [first ed. 1907 London,] revised ed. 1998.
- Hedin, Sven - Transhimalaya, Vol, II Macmillian & Co. Ltd 1920.
- Jacobi, H. - Secred Book of the East, reprint, Delhi , 1964.
- Jain, Champat Rai - Lord Risabha Deva : The Founder of Jainism, The Jain Mitra Mandal, Dharampura, Delhi. 1935.
- Lalwani, Ganesh (ed .) - Jainthology, Jain Bhawan, P-25, Kalakar Street, Kolkata - 7, July 1991.
- Landor, A. Henry Savage - In the Forbidden Land, William Heinermann, London, 1898.
- Marshall, Sir John - Mohan-Jo-Daro and the Indus Valley Civilization, Vols, I-III London 1931.
- Mc. Crindle J.W. - Ancient India, ed by Ram Chandra Jain, Today & Tomorrow's Printers & Publishers, New Delhi - 5, 1972.
- Thomas, Maurice - The History of Hindustan, its Arts and its Science, W. Bulm, London, 1795.
- Mukherjee, K. N. - Rigveda. Aseema Prakashanee, Kolkata, 2003.
- Nair, V.G. - Research in Religion : Rule And Reform. Union of Universal Welfare, Adeeswara Bhavanam Poial - Red Hills Tamilnadu.
Adi Bhagawan Rishbha, Union of Universal Welfare, Adeeswara Bhavanam Poial - Red Hills, Tamilnadu 1970.
- Oak. P.N. - World Vedic Heritage, Shree Vedvidya Mudranalaya Pvt. Ltd. 10, Goodwill Society, Aundh, Pune 411007, second edition 1995.
Some Blunders of Indian Historical Research, Bharati Sahitya Sadan 30/90 Connought Circus, New Delhi - 110001.
- Shah R. - Collection of Ashtapad material Vol. I-VII, New York, U.S.A., 2002-2004.

- Shah, U.P. - Studies in Jaina Art, Jaina Cultural Research Society, Banaras, 1955
- Sherring, Charles A. - Western Tibet
- Smith, V. A. - Jain Stupa and other Antiquities of Mathura, Allahabad, 1901, reprint Varanasi, 1969.
- Snelling, John - The Sacred Mountain
- Stein, M.A. - Kalhana's Rājatarāṅgiṇī, Vol, I-II, Motilal Banarsidass Publishers Private Limited, Delhi, 1989.
- Swami Pranavananda - Exploration in Tibet, University of Calcutta, 1939.
- Therton, P.T.E. - The Last Strong Holds, London, 1934.
- Williams, Henry Smith (ed .) - Historians History of the World, 25 volumes, R. & R. Clark, Ltd. Edinburgh, 1907